श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(उन्नीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

तृतीय संस्करण] आषाढ़, सं० २०२१ वि० [मू० १.२५ न० पै०

विषय-सूची

अ० सं०	विषय	पृष्ठांक

चित्र-सूची

प्राक्कथन

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्ट चेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युवा तद्वज्ज्ञानार्थदृक्पुमान् ॥

(श्री भा० ११ स्कं० २८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

प्रभु जड चेतन माहिँ व्याप्त हरिमय जग देखें ।
परमारथ पथ पथिक पृथक्ता पक्ष न पेखें ॥
भिन्न भाव भव माँहिँ भ्रमाव बन्ध करावे ।
देखें जे गुण दोष न ते पुनि प्रभुपद पावें ॥
करे चित्त जस भावना, तस पावे यह जीव तन ।
भले बुरे हिय भाव जो, उठें होहि तद्रूप मन ॥

"भागवती कथा" के सोलहवें खण्ड में मैंने एक 'प्राक्कथन' के सम्बन्ध में 'निवेदन' किया था और उस पर पाठकों से सम्मति माँगी थी। सब पाठकों के तो उत्तर आये नहीं किन्तु बहुत से पत्र आये। जितने पत्र मेरे पास आये उनमें से एक भी ऐसा

श्री भगवान् उद्धवजी कहते हैं—"उद्धव ! इन्द्रियाँ निद्राग्रस्त राजस् अहंकार के कारण से होती हैं। तब शरीरस्थ जीव या तो चेतना शून्य होकर स्वप्न रूप माया को प्राप्त होता है अथवा सुषुप्ति रूप मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् निद्रा आने पर मन या तो स्वप्न के पदार्थों में जीव को भटकाता है या गहरी निद्रा में मृतकवत् होकर पड़ा रहता

नहीं आया, जिसमे 'प्राक्कथन' लिखने में असम्मति प्रकट की हो।

एक सज्जन ने बड़ी सुन्दर बात लिखी। उन्होंने लिखा—'आपने प्रथम खण्ड मे ही यह बात लिखी थी, कि मैं कुछ नहीं लिखता, भगवान् जो लिखाते हैं, वही लिख देता हूँ। वे जो लिखायेंगे लिख दिया करूँगा। फिर यह सम्मति असम्मति का प्रश्न ही क्यों उठा ? पाठकों मे अनेक प्रकार के होते हैं, कोई कुछ कहेंगे कोई कुछ। इसलिये आप किसी की सम्मति की प्रतीक्षा न करके जो भगवत प्रेरणा हो वह करे। भगवान् लिखावें तो लिखें न लिखावें न लिखें।" यह बात बड़ी ही सुन्दर कही। जीव में यही तो एक बड़ी भारी त्रुटि है, वह एक बार तो बुद्धि से विचार कर निश्चय करता है सब भगवान् करते हैं, किन्तु फिर बहक जाता है। फिर अपने में कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। इसकी सम्मति लेने में 'प्रशंसा सुनने की भावना, निहित थी। 'मेरी कृति का लोग आदर करते हैं या नहीं।' अच्छा, यह भी भगवत् प्रेरणा ही होगी। पाठकों के मुख से ही कहलाकर पुनः प्रेरित कराना चाहते होंगे। प्रभो ! ऐसी कृपा करो तुम्हारे कार्यों में मुझे अपने पन का अभिमान न हो।

'भूमिका' 'प्रस्तावना' 'प्राक्कथन' दो शब्द 'अपनी बात'

है। उसी प्रकार जो दूसरों की निन्दा स्तुति करता है ऐसा भेददर्शी पुरुष या तो विक्षेप को प्राप्त हो कर या लय को प्राप्त होकर स्वार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह कि उसको या तो स्वर्गादि जीवों की प्राप्ति हो जायगी या चौरासी के चक्र मे पुनः पुनः पिसता रहेगा। मोक्षमार्ग से वह गिर जायगा।"

'मुख बन्ध' 'प्राथमिक वक्तव्य' आदि आदि नामों से पुस्तकों में जो मुख बन्ध लिखा जाता है, उसमें दो बातें होती थीं, पुस्तक के विषय के सम्बन्ध मे और पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध मे। अब एक तीसरी बात का भी समावेश हो गया है, पुस्तक की छपाई प्रकाशन की सुविधा असुविधा का दिग्दर्शन कराना। इन तीनों बातों में से मुझे अपने प्राक्कथन मे कौन सी बात लिखनी है। पुस्तक के विषय मे क्या लिखूँ, प्रत्येक अध्याय के पूर्व एक छोटी सी भूमिका रहती ही है। छपाई आदि के सम्बन्ध मे प्रकाशकीय वक्तव्य में समय समय पर प्रकाश डाला ही जाता है। अब रह गई अपनी बात। सो, अपनी क्या बात लिखूँ ? कुछ बन्धु स्नेह वश लिखते हैं अपने चरित्र का कुछ दिग्दर्शन कराया करें। चरित्र तो चरित्रवालों का लिखा जाता है। मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, कि मैं वैसा चरित्रवान् पुरुष अपने को नहीं समझता। कुछ कहते हैं—"अपने अनुभव लिखो जिससे दूसरे परमार्थ पथ के पथिकों को कुछ लाभ हो। अनुभव बुद्धिमान् पुरुषों को दो ही कारणों से होते हैं—

'बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया'

मनुष्यों को आयु की वृद्धि से तथा गुरुजनों की सेवा से स्वयं ही बुद्धि आ जाती है। उसे अनुभव होने लगते हैं। गुरु जनों की सेवा तो इस जीवन मे हो नहीं सकी। हाँ, आयु की वृद्धि से अनुभव अवश्य हुए। अपने प्राचीन पापों का प्रायश्चित्त करने की बातें सोच रहा हूँ। मैंने अनुभव किया, परमार्थ पथ मे परदोष दर्शन से बढ़ कर कोई पाप नहीं है। दूसरे के जिस दोष का हम मन में चिन्तन करेंगे, वाणी से उसे

पड़ेंगे। उसके संस्कार हमारे जीवन मे अवश्य पड़ेंगे, अवश्य पड़ेंगे, बिना पड़े रहेंगे नहीं। दर्पण के सम्मुख जो आवेगा उसी का उसमे प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार गुणो का भी। हम किसी के गुणो की प्रशंसा करेंगे, तो वे गुण हम मे कभी न कभी अवश्य आवेंगे और उसके पुण्य हमे लाभ मे मिलेंगे। इसी प्रकार जिसके दोषो का हम वर्णन करेंगे चिन्तन करेंगे वे दोष हममे कभी न कभी अवश्य आवेंगे और उसके पापों में भी भागीदार होना पड़ेगा। एक साधु को सुन्दर बढिया भवन मे बड़े ठाठ बाठ से हुक्का पीते देखकर एक साधक ने उसकी निन्दा की। दूसरे महात्मा ने कहा—"अरे, ऐसा मत कहो। नहीं तुझे भी एक दिन ऐसा ही होना पड़ेगा।" कुछ लोगो का कहना है—'सत्य बात कहने मे क्या दोष? दोषा वाच्याः गुरोरपि?' जब तक हम निन्दित काम वालो की निन्दा न करेंगे, तब तक वे निवृत्त कैसे होंगे? समाज की व्यवस्था कैसे समुचित रूप मे रहेगी?" ये बातें अपने दोषो के समर्थन के लिये हैं। निन्दा करने से कौन पापो से निवृत्त हुआ है? फिर जो अधिकारी हों, जिनमे दण्ड देने की सामर्थ्य हो, उनके लिये तो यह भी कहा जा सकता है, जिसे सबको अभयदान देकर न्यस्त दण्ड होकर परमार्थ के पथ की ओर अग्रसर होना है, उसे दूसरो के दोष देखने और उनका प्रचार करने का अवसर ही कहाँ है। यदि वह दूसरो के दोष देखता है, तो मानो वह परमार्थ पथ की ओर अभी एक पग भी नहीं बढ़ा। यह ध्रुव सत्य है, मेरी अनुभूत बात है। जो जिस बात को सोचेगा, उसका उसके मन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। यह सृष्टि संकल्पमयी है। इसीलिए वैदिक ऋषि नित्य वेद मंत्रो से प्रार्थना करते थे, मेरे सकल्प शुभ हों। अपने त्याग वैराग्य के मिथ्याभिमान वश

मैंने दूसरो की जो निन्दायें कीं, वे सब मुझमे आ गई हैं। जिन अपराधों के लिये मैंने अपने साथियो का अत्यधिक भर्त्सना की उनसे बडे बडे प्रायश्चित्त कराये, वे सब अपराध किसी न किसी अश मे मुझमे आ गये। जिनके दर्शन और स्पर्श से व्रत भङ्ग होता है, अत्यन्त लज्जा, दुःख और ग्लानि के साथ मैं स्वीकार करता हूँ कि उनसे मे निर्मुक्त न रह सका और मेरी भावना सर्वथा विशुद्ध भी नहीं बनी रही। अपने शरीर का रक्त निकाल कर उसके द्वारा हस्ताक्षर करके मैंने स्वय और अपने साथियों से कामिनी काचन स्पर्श न करने की प्रतिज्ञायें कीं और कराईं और मेरे जीवन मे एक आडम्बर मात्र शेष रह गया। धन के विषय मे मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, कि मैं कभी किसी से धन की याचना करूँगा या उसके लिये चिन्ता करूँगा, किन्तु अब दोनों बातें हो रही हैं। धन के लिये मुझे सङ्कल्प भी देना पडता है। हाथ से स्वय न छुओ, दूसरो से छुआओ। हाथ से न रखो दूसरों से रखाओ। एक ही बात है, सेठ साहूकार भी बाँधे नही फिरते। बैङ्कों में कोषाध्यक्षो के पास ही रखते है। यही दम्भ ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में समझो केवल 'अध्यवसाय' मात्र से निवृत्त होना ही तो ब्रह्मचर्य नहीं। स्मरण, दर्शन, स्पर्श आदि से भी तो निर्मुक्त रहना चाहिये। सो रहा नहीं। ये विषय ऐसे हैं कि स्पष्ट कहे भी नहीं जा सकते और परमार्थ मे कहे बिना काम चलता भी नहीं। अतः श्रेष्ठ तो यही है कि—

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा।
सेवाकथारसमहो नितरा पिब त्वम्॥

दूसरो के गुण दोषों का चिन्तन त्यागकर निरन्तर सेवा

कथा के रस पान में ही लगे रहो। यदि किसी प्रकार ऐसा न हो, तो गुण ही गुण देखे। दोषों की उपेक्षा कर दे। यह सम्भव नहीं, किसी में कोई गुण न हो। यदि हमारी वृत्ति गुण देखने की ओर लग जायगी तो सबमें कुछ न कुछ गुण दीखने ही लगेंगे। दोष देखने का स्वभाव पड़ जाय, तो ऐसा एक भी न दीखेगा जिसमें दोष दिखाई न दे। गुणों की अपेक्षा दोषों का प्रभाव अधिक पड़ता है। पुण्य कर्मों की अपेक्षा पाप कर्मों का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सहस्रों वर्ष तप करो, ब्रह्मचर्य से रहो, पल भर में ब्रह्महत्या, सुरापान या गुरुपत्नीगमन जैसे महापाप बन जायँ, सब पुण्य समाप्त। पाप तो क्षण भर में हो गया, उसे भोगने को कई युग, लाखों करोड़ों वर्ष चाहिये। हम अभिमानवश कहते हैं—"हम पापियों की दुराचारियों की निन्दा इसलिये करते हैं कि वे दोष हममें न आने पावें। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैं भी निन्दा करता था, करता हूँ, किन्तु यह तो मुख पर तमाचा मारकर उसे लाल करने के समान है। हम अपने मुखपर कसकर तमाचा मारें, तो मुख कुछ काल के लिये लाल अवश्य हो जायगा, किन्तु वह ललाई क्षणिक होगी। उसकी वेदना बनी ही रहेगी। इस प्रकार बुरे लोगों की क्रोध में भरकर बुराई की जाय, तो कुछ काल को उस बुराई के प्रति घृणा अवश्य होगी, किन्तु उसके संस्कार हमारे मनमें शेष रह जायँगे और अवसर पाते ही वे बुराइयाँ हममें अवश्य प्रकट होंगी। पृथ्वी में बहुत सी वस्तुओं के बीज पड़े रहते हैं, जो दिखाई नहीं देते। चैत्र वैशाख में उष्णता के कारण सर्वत्र स्वच्छ दिखाई देता है। जहाँ वर्षा हुई, अनुकूल अवसर आया, कि वे बीज अंकुरित हो उठते हैं और अपने जैसे और भी अनेक बीजों को उत्पन्न करते हैं। बुराई से बुराई

नष्ट नहीं होती। हमारा चिंतन ही भजन है। हम जो सोचते हैं—"मानो वही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। मरकर हम उसी लोक को प्राप्त होंगे जिसे इस जन्म मे प्राप्त कर लेंगे। कुंडलिनी योग के मतानुसार हमारे शरीर मे षड्चक्र है। उन चक्रों मे भिन्न भिन्न वर्ण, देवता, तथा लोकादिकों की कल्पना है। उस शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है हम जिस स्थिति को यहाँ प्राप्त कर लेंगे, वही हमे वहाँ प्राप्त होगी। जो पैदा करेंगे उसे ही बैठकर खायेंगे। कोन सी गति प्राप्त होगी, यह सहज ही अपने मनके विचारों से जानी जा सकती है। जो निरन्तर घर द्वार कुटुम्ब परिवार की ही चिंता करता रहता है, उसे फिर यहीं आकर जन्म लेकर ये वस्तु प्राप्त होंगी, जो निरन्तर स्त्री मे आसक्त रहता है उसे वही प्राप्त होगी जो धर्म का सेवन करता है, मन में धर्म की ही चिंता करता रहता है उसे स्वर्गादि धर्मलोक प्राप्त होंगे। जो शून्य की भावना करता है, वह शून्य मे विलीन होगा, जो निरन्तर भगवत् भावना मे भावित रहता है उसे भगवत् लोकों की प्राप्ति होगी। बाहर ज्योतिषी से पूछने की आवश्यकता नहीं। अपने मन को ही देखो उसी से हमे अपनी स्थिति का पता चल जायगा। बहुत से साधक चिरकाल तक साधाना करते हैं, उन्हें मन का ही पता नहीं चलता। मन को मनन किया जाय, अपने विचारों कार्यों पर निरन्तर ध्यान रखा जाय, तो अपने मन की स्थिति का पता चलता है। पूर्व जन्मों के संस्कारवश मैं अति छोटी अवस्था से भगवान् की सेवा पूजा में प्रवृत्त रहता था। गाँव छोडकर जब नगर मे आया, तो मुझे एक आर्य समाजी बन्धु का साथ हो गया। उन्होंने उन्नति की जो वक्तृता दी उसने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। मेरे विचारों में समाजीपन आ गया। मेरी

वैसे भी सङ्कल्प हो, कल्पवृक्ष के नीचे व्यर्थ नहीं हो सकते। सोचो—'भोजन आ जाय, भोजन आगया। सोचो सिंह आ जाय मुझे खा जाय, तो सिंह आ जायगा खा जायगा। संसार में भी यही है। सृष्टि सङ्कल्प से ही चल रहा है। बड़े से बड़े पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तनिक से असत् सङ्कल्प से प्राणी उससे पतित हो जाता है। इस सम्बन्ध की एक बहुत ही सुन्दर कथा उस दिन यहाँ शरदोत्सव मनाया गया था, उस अवसर पर पूज्यपाद श्रीहरि बाबाजी ने सुनाई थी। उससे विदित हो जायगा, कि उत्तम लोक में भी यदि असद् सङ्कल्प हो जाय, तो उसका भी तत्काल फल भोगना पड़ता है,वह कथा इस प्रकार है'—

एक राजा की राजसभा में एक सन्यासी जी ने प्रवेश किया। सन्यासीजी के पास पिंजड़ा में एक पक्षी था। राजा ने उठकर सन्यासीजी का आदर किया और पूछा—"महाराज! आप सन्यासी होकर इस पक्षी को क्यों लिये फिरते हैं? इस पक्षी में कौन सी विशेषता है?

सन्यासी ने कहा—"यह पक्षी स्वयं ही अपनी कथा कहेगा।

राजा ने यह सुनकर पक्षी से कहा—"हे पक्षी रूप में देवी जी! यदि आप अपनी कथा, सुनाने में समर्थ हो तो हम सबको अपनी कथा सुनावें।"

यह सुनकर पक्षी दैवी मानुषी भाषा में बोली—"राजन्! मैं आपको अपनी कथा सुनाती हूँ। पूर्वकाल में जब भगवान् बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्त घोर तप कर

रहे थे उन्हीं दिनों बोधि गया के समीप एक छोटे भूमिपति राजा थे उनकी पत्नी का नाम सुजाता था। राजा के कोई सन्तान नहीं थी, रानी सुजाता ने वनदेवता मे प्रार्थना की, कि यदि मेरे पुत्र हो जाय, तो मैं आपकी विधिवत् पूजा करूँगी।" वनदेवता की कृपा से उनके एक पुत्र हो गया। अब वनदेवता की सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पायस (खीर) बनाकर पूजा करती थी। राजा के सहस्रों गौयें थीं, सहस्रों बीघा खेत थे। उन्होंने सुन्दर उत्तम जाति के धान मँगाकर ५०० खेतों मे बुआये। फिर उनमे से जो अति उत्तम बीज थे, उन्हें २५० खेतों मे, उनमे से भी छाँटकर १०० खेतों मे, फिर उनमें भी जो अत्यन्त उत्तम धान थे, ५० खेतों मे, फिर पाँच खेतों मे, तब एक खेत में धान बोए। साराश इतना ही है, कि सर्वोत्तम चावल थे। इसी प्रकार का सुन्दर सुन्दर स्वस्थ नीरोग अधिक दूध देने वाली ५०० गौओ को मीठी मीठी घास तथा घुँघचियो के लताये खिलाईं जिनसे उनका दूध स्वादिष्ट हो जाय। उन सबके दूध को दुह कर वह १०० अत्यन्त सुन्दरी गौओ को पिलाते, उन्हें जल के स्थान पर दूध हा पिलाते जिससे उनका दूध स्वादिष्ट और गाढा हो जाय। फिर १०० गौओं के दूध को २५ गौओं को पिलाते। उनके दूध को पाँच गौओं को पिलाते जिससे वह दूध अमृत के समान स्वादिष्ट बन गया। उस दूध की उन चावलों से सुजाता देवी ने वन देवता की पूजा करने को परम प्रेमयुक्त हाकर पायस बनाई। सुवर्ण के कटोरे में रखकर वह सोलह शृगार करके वनदेवता की पूजा करने चलीं। प्रथम उसने दासी को भेजा कि जाकर वनदेवता के मन्दिर को झाड़ बहार कर स्वच्छ करे।

बोधि वृक्ष के निकट ही एक जीर्ण शीर्ण प्राचीन वन देवता का मन्दिर था। दासी उस मन्दिर को स्वच्छ करने लगी तो सम्मुख पद्मासन लगाये भगवान् बुद्ध को देखा। भगवान् बुद्ध राजकुमार थे, परम सुन्दर थे, युवक थे, घोर तपस्या करने से उनके सम्पूर्ण शरीर से दैवी तेज निकल रहा था। वे आसन लगाये निश्चल भाव से विराजमान थे। दासी देखकर भौचक्की रह गई उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह दौडी दौडी रानी सुजाता के समीप गई और हाँपती हुई बोली—"रानीजी! रानीजी! आप बडी भाग्यवती हैं, आपके भक्ति भाव से प्रसन्न होकर वन देवता तो मूर्तिमान होकर मन्दिर के बाहर विराजमान हैं।

यह सुनकर सुजाता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रेम में पगली हुई स्नेह भरित हृदय से सुवर्ण के कटोरे में उस पायस को लेकर पहुँची। भगवान् बुद्ध ध्यान मग्न थे, सुजाता देवी एक पैर से जाकर खडी हो गई। कुछ काल में भगवान् बुद्ध ने नेत्र उठाकर देखा तो पूजा की सामग्री लिये एक देवी खडी है।

भगवान् ने पूछा—"देवी! तुम कौन हो? क्यों खड़ी हो?

सुजाता ने कहा—"हे वनदेवता! आपकी ही कृपा से मेरे पुत्र हुआ है, मैं आपकी पूजा करना चाहती हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देवी मैं कोई देवता नहीं। मैं तो तुम्हारे ही जैसा एक मनुष्य हूँ।

अत्यन्त विनीत भाव से सुजाता ने कहा—"प्रभो! आप

कोई हो मुझे पूजा कर लेने दे।"

श्रद्धा भक्ति की पराकाष्ठा होने से सभी विवश हो जाते हैं। भगवान् बुद्ध ने पूजा करने की आज्ञा दे दी। सुजाता ने विधिवत् भगवान् की पूजा की और पायस अर्पण की भगवान् को अत्यन्त भूख लगी हुई थी। बहुत दिनों से उन्होंने आहार छोड़ रखा था। नदी तट पर बैठकर उन्होंने उस खीर को खाया। सुवर्ण पात्र वहीं फेंक दिया। खाकर वे पुनः आसन पर विराजमान हो गये। सुजाता के नेत्र उनके दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे, वह अपलक भाव से भगवान् के दर्शन कर रही थी। उसने आश्चर्य के साथ देखा भगवान् के श्री अङ्ग से दिव्य ज्योति निकल रही है जो पृथिवी से आकाश पर्यन्त एक दिव्य सुवर्णमय वृक्ष के आकार मे परिणत हो गई है। सुजाता उस दिव्य प्रकाशमय वृक्ष के दर्शन करके आनन्द मे विभोर हो गई। उसे इतना अधिक आह्लाद, इतना आनन्द हुआ कि शरीर उसे सहन करने मे समर्थ न हुआ। सुजाता के शरीर का वहीं पात हो गया।

पक्षिणी देवी, राजा से कह रही है—"राजन्! वह सुजाता और कोई नहीं थी, मेरा ही नाम सुजाता था। उस दिव्य तेज के दर्शनानन्द मे तनु त्याग करने के कारण मुझे तुषित नामक दिव्य लोक की प्राप्ति हुई। उस आनन्दमय दिव्य लोक मे मैं दिव्य शरीर से सहस्रों वर्षों तक-उस आनन्द का अनुभव करती रही। वहाँ पर भी मेरा सूक्ष्म अभिमान शेष था। एक दिन मुझे वही भगवान् के दिव्य तेज का स्मरण आ गया। मैंने देखा भगवान् बुद्ध के शरीर से एक तेज पुंज निकल कर वृक्ष के आकार मे परिणत हो गया है और उस पर एक दिव्य पक्षी 'बैठा' है। मेरा ध्यान उस

पत्ती की ओर लग गया। चित्त की तनिक सी वृत्ति पत्ती में लग जाने से ही मेरा उस दिव्य लोक से पतन हो गया और मुझे पत्ती योनि प्राप्त हो गई। किन्तु पुण्य प्रभाव से सौभाग्य-वश मैं पत्ती भी हुई तो व्रज मंडल में हुई। जिस माता ने मुझे जन्म दिया उसका घोसला व्रज मे यमुना जी के तट पर एक सघन वृत्त के ऊपर था। वहाँ मैं अपनी माता के साथ रहती। माता इधर उधर से अन्न कण एकत्रित करके लाती और मुझे खिलाती।

जिस वृत्त पर हमारा घोसला था, उसी वृत्त के नीचे वानरों का श्मशान घाट था। जो वानर मरता उसे दूसरे वानर वहीं लाकर उसका अन्तिम संस्कार करते। उसी समय कोई वानर मरा। अन्य वानर उसे लाये। परस्पर दो पाषाणों को टकराकर वे अग्नि प्रकट करते थे, उसके लिये उन्हें कुछ कोमल तृणों की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक वानर ने झपट कर हमारा घोसला तोड लिया और उनसे अग्नि जलाई सौभाग्य से उस समय हम घोसले में नहीं थी। मेरी माँ मुझे अन्य शाखा पर बिठाकर भोजन करा रही थी। जब हमारा घर उजड गया, तो मेरी माँ ने उस श्मशान भूमि के वृत्त पर रहना उचित न समझा। वह मुझे लेकर शनैः शनैः उडी। उड़ती उडती बीच बीच में विश्राम करती हुई वह पञ्चनद प्रदेश मे अटक नदी के तट पर जा पहुँची। वहाँ नदी तट पर दुर्गा देवी का एक भव्य मन्दिर था, समीप ही एक सघन निम्ब वृत्त था। मेरी माँ ने उसी पर अपना नया घर बनाया। मैं सुख पूर्वक वहाँ रहने लगी।

एक दिन मेरी माँ अन्न कण एकत्रित करने गई किन्तु लौट-

२

कर नहीं आई। मैं अभी अबोध थी, जब नियत समय तक माँ नहीं आई तो मैं बडी चिन्तित हुई। पल, पल, क्षण क्षण मेरे लिये भारी हो गया। दिशाओं की ओर देखते देखते मेरी आँखें पथारा गई। मैं अत्यन्त कातर होकर रुदन करने लगी तीन दिन इस प्रकार मुझे हो गये। मैं अत्यन्त विह्वल होकर माता के लिए विलाप करती रहती थी। मेरे पाषाण को पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन को श्रवण करके दुर्गा देवी अब आसन पर स्थिर न रह सकीं। वे दिव्य शरीर से प्रकट होकर मेरे निकट आई। उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे मस्तक के ऊपर रखा। देवी के हस्त का स्पर्श होते ही मैं परम सुन्दरी सुकुमारी कुमारी बन गयी। तब देवी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझसे कहा—"बेटी तू चिन्ता मत कर। तू पक्षी नहीं तू तो श्री कृष्ण की नित्य सहचरी है, तेरे मन मे कुछ अहंकार का अश शेष था, उसे ही नष्ट करने तुझे तेरे सकल्पानुसार यह पक्षी योनि प्राप्त हुई। अब तू साधन द्वारा उस अहकार को नष्ट कर।"

मैंने विनीत भाव से कहा—"माँ ! मैं तो पक्षी योनि मे उत्पन्न हुई हूँ, मैं साधन भजन क्या जानूँ ?"

देवी ने कहा—"देख, साधन मैं तुझे बताती हूँ मैं तुझे एक दिव्य नाम मंत्र का उपदेश करती हूँ, इस नाम का उच्चारण तू अत्यन्त अनुराग के साथ, परम प्रेम युक्त होकर, मधुर वाणी मे, लय के साथ एकाग्र चित्त से करना। और मत्र तो मन ही मन जपे जाते हैं, किन्तु यह नाम मंत्र वाणी मे, बोलकर गाकर तू उच्चारण करना। इस नाम मन्त्र के गान से तेरे समस्त रहे सहे अशुभ नष्ट हो जायँगे। तुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी और फिर तू जन्म मरण के चक्र से सदा के

लिये निवृत्त हो जायगी। मन्त्र जाप से अनुराग, तन्मयता और हृदयोल्लास यही प्रधान हैं। आत्मविस्मृत होकर तू इस मन्त्र का गान करना।" यह कह कर देवी ने मुझे।

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव॥

इस श्रुतिमधुर परम दिव्य मन्त्र का उपदेश दिया। और कहा—"अब तू पुनः ब्रज में ही जाकर निवास कर।

मैंने हाथ जोड कर देवी से कहा— माँ! मैं तो तुम्हारे साथ रहूंगी, तुम्हें छोडकर मै कहीं नहीं जाऊँगी।"

देवी ने मुझे अत्यन्त प्रेम के साथ पुचकारते हुए कहा— "देख, बेटी तू मर्त्य लोक की है, मैं दिव्य लोक का देवी हू, मेरा तेरा साथ कैसे हो सकता है। तेरा श्रेय ब्रज मे जाकर होगा। तू चाहे तो इस मानवी रूप को भी रख सकती है, किन्तु युवती सुन्दरी कन्या के रूप में अनेक विघ्न बाधाये हैं, कामी लोग सुन्दरी युवती को अकेली देखकर भाँति भाँति के विघ्न डालते हैं, अतः मेरी सम्मति मे तू वही पक्षी का रूप रख ले।" इतना कह-कर दुर्गा देवी अन्तर्हित हो गई। मैंने पुनः पक्षिणी का रूप रख लिया। भगवती के पादपद्मों मे साश्रु प्रणाम करके नयनों के नीर से उनके पादो को प्रक्षालन करके मैं ब्रज मन्डल की ओर उड़-कर चल दी।

जो वृन्दावन धाम भुवि का भूषण है जो मायिक प्रपञ्चो से सर्वथा रहित है, जहाँ रसिक विहारी रासेश्वर श्रीकृष्ण अपनी

नित्य सहचरियों के सहित नित्य रास विलास करते रहते हैं उस परम शोभानय धाम के दर्शनों से ही मेरा हृदय खिल उठा। कालिन्दी के कलित कूल के निकट स्थित वंशीवट की एक शाखा पर मैंने अपना घर बनाया। दिन में तो मैं शनैः शनैः "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मंत्र का जप करती रहती। जब अरुणोदय होता तो मैं सस्वर अत्यन्त ताल लय के साथ सुन्दर स्वर में इस नाम मंत्र का गान करती। मेरा स्वर इतना सुरीला था, कि जो भी मेरे मन्त्र गान को सुनता वही मन्त्र मुग्ध होकर स्तम्भित हो जाता। यमुना स्नान करने जितने भी नर नारी आते, मेरे सुमधुर अलौकिक दिव्य गान को सुनकर सब कार्यों को भूलकर वहीं चित्र लिखे से खड़े के खड़े हो जाते। नित्य ही मेला सा लग जाता। कोई कहता—"यह दिव्य गान है, कोई स्वर्गीय बताता और कहता—"पता नहीं कौन गा रहा है। मैं छोटी सी थी, वंशीवट के हरे हरे सघन वृक्षों के बीच घोसले में ऐसी छिपी रहती, कि किसी को दिखाई ही न देती, फिर इस बात का कोई अनुमान भी तो नहीं कर सकता था, कि कोई पक्षी मानवी भाषा में ऐसा दिव्य गान कर सकता है।

एक दिन मन्त्रगान करते करते मैं तन्मय हो गई शरीर की भी मुझे सुध न रही। उसी अचेतनावस्था में गान करते करते, मैं वंशीवट से भूमि पर मूर्छित होकर गिर गई। ये सन्यासी महाराज भी वहीं वंशीवट के निकट कुटी बनाकर रहते थे, ये भी मेरे गायन से मुग्ध थे। जब मैं गाते गाते गिरी तो इन्हें निश्चय हो गया, यह पक्षिणी ही गान करती है, तुरन्त इन्होंने मुझे पकड़ कर एक पींजड़े में बन्द कर दिया।

जब मेरी मूर्छा भंग हुई, तब अपने को बन्धन मे देखकर दीनवाणी मे मैंने स्वामी जी से विनय की—स्वामिन्! आप वीत-रागी, गृह त्यागी विरागी सन्यासी हैं। आप तो सब को बन्धन से मुक्त करने वाले हैं, फिर आप मुझे बन्धन मे क्यों डालना चाहते है ?"

इन सन्यासीजी ने कहा—"देख, यद्यपि मैं सन्यासी हूँ, फिर भी मेरा मनुष्य शरीर तो है ही। मनुष्य योनि सब योनियों से बडी है। उसे अधिकार है, जिनसे अपना काम चले, उन्हें बन्धन मे रखे ऐसा न हो तो मनुष्य का काम कैसे चले। गाय, भैंस, बैल, घोडा, गधा, ऊँट, भेड, बकरी, तथा अन्य पशुपक्षियो को बाँधकर—मनुष्य रखता है। मुझे तेरा गायन अत्यन्त प्रिय है, तू भगवन्नाम का गायन करती है इससे मुझे भगवत् स्मृति होती है। तुझे मैं बाँधकर रखूँगा।"

मैंने कहा—"स्वामी जी! यदि किसी पुष्प के सौंदर्य को देखकर चित्त प्रसन्न होता हो, तो उसे तोड कर अपनाकर अपने पास रखना मोह है, लोभ है, सग्रह है। आप अपने स्वार्थ के लिये मुझे बन्धन मे रखना चाहते हैं, यह अन्याय है।"

स्वामीजी ने कहा—"अपने स्वार्थ के लिये तो सब कुछ करना होता है। ऐसा न करे तो शरीर यात्रा ही न चले। तुम्हे मैं कष्ट न दूँगा। गायन सुनूँगा इसमे मैं तो कोई अन्याय की बात देखता नहीं।"

मैंने कहा—"अच्छा आप किसी राजा के पास चलें वह जो निर्णय करे उसी के अनुसार कार्य हो।" स्वामीजी ने यह बात स्वीकार कर ली।

स्वामीजी मुझे लेकर एक राजा की सभा में गये, यद्यपि राजा मेरे पक्ष में ही थे, किन्तु उनके मन्त्रीगण मेरे विपक्ष में थे, अतः बहुमत स्वामीजी के पक्ष में होने से कोई निश्चित निर्णय न हुआ। तब मैंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि जगन्नाथपुरी के महाराजा बड़े धर्मात्मा हैं, प्रजावत्सल सत्यवादी, न्यायप्रिय और युक्तायुक्त के निर्णय करने में परम पटु हैं। उनके पास चला जाय। वे जो भी निर्णय करें वह दोनों को मान्य हो।" स्वामी जी ने मेरी यह भी प्रार्थना स्वीकार की इसीलिये मुझे लेकर ये आप के समीप आये हैं, अब आप जो भी निर्णय करेंगे, वह हम दोनों को मान्य होगा।" इतना कह कर वह पक्षिणी चुप हो गई।

पक्षिणी की कथा सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये। कुछ देर सोचने के पश्चात् कटकाधिप महाराज हाथ जोड़कर स्वामी जी से बोले—"भगवन्! आपकी नाम निष्ठा और कीर्तन श्रवण का अनुराग सराहनीय है। आप यहाँ राजगुरु के पद को सुशोभित करें, मुझे अपना शिष्य बनाकर सत्शिक्षा देते रहें। किसी को बन्धन में रखना न्याय नहीं है, अतः आप इस पक्षिणी को छोड़ दें।"

राजा की बात स्वामीजी ने स्वीकार करके उस पिंजड़े से पक्षिणी को मुक्त कर दिया।

पिंजड़े से बाहर जब वह कृतज्ञता भरी दृष्टि से राजा की की ओर निहारने लगी, तब राजा ने उससे कहा—"हे, देवि! तुम अब उड़ कर श्री वृन्दावन के निकट, यमुना तट वंशी वट वृक्ष पर ही जाकर रहो। अब तुम अपना गायन कीर्तन अर्द्ध-

रात्रि की वेला में किया करना जिससे कोई श्रवण न करे।,, यह सुनकर पक्षिणी ने स्वामीजी को और राजा को प्रणाम किया और वह उड़कर वृन्दावन में वशी वट पर रहने लगी। अब वह अध रात्रि के समय ' श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हेनाथ नारायण वासुदेव—,,इस दिव्य नाम मत्र का गायन किया करती थी। गायन करते करते शरद् पूर्णिमा की परम सुषमा दिव्यचद्रन्युक्ता विभावरी आई।

भगवान् का रास तो नित्य है। नित्य ही वे अपनी सखी सहचरियों के साथ वृन्दावन की पुण्य भूमि में रास किया करते हैं, किसी भग्यशाली को दर्शन भी हो जाते हैं। उस दिन उस पक्षिणी को एक राम नाम मया दिव्य वाणी सुनाई दी। उस वाणी के श्रवण मात्र से ही उसका समस्त अहकार नष्ट हो गया। तुरन्त उसने इस पाँचभौतिक शरीर का परित्याग करके दिव्य व्रजाङ्गना का रूप रख लिया। रासेश्वरी श्री राधा रानी ने उसे अपने परिकर में मिला लिया। वह नित्य लीला की अधिकारिणी सहचरी बन गई।,'

इस आख्यान से यही शिक्षा मिलती है, कि जब तक किसी प्रकार की भी वासना शेष है, तब तक उसे प्रभु प्रेम की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जब तक विषय वार्ता श्रवण में सुख प्रतीत होता है, तब तक समझना चाहिये उसे भगवत् गुण श्रवण रस ने स्पर्श तक नहीं किया। भगवत् गुण श्रवण रसका जिसने यत् किंचित भी अनुभव कर लिया हो, उसे विषयवार्तायें विष से भी अधिक दुखद प्रतीत होगी। जिसने हृदय से एक बार भी ब्रह्म सस्पर्श कर लिया हो, उसे इन हाड मास के घने मलमूत्र से भरे शरीरों के स्पर्श में भला क्या सुख हो सकता है, जिसकी प्राण ने भगवान् के चरणतल में

पड़ी दिव्य तुलसी की सुगंधि का अनुभव किया हो, उसे इन भौतिक पदार्थों में क्या सुख होगा। जिसने कभी स्वप्न में ये एक बार भी उस दिव्य छटा की बॉकी झॉकी कर ली हो, उसे हाड़ मांस के बने काले गोरे मुख मलपिंड अपनी ओर क्या आकर्षित कर सकेंगे। वह तो सब मे उसी अपने हृदयधन की छटा का अवलोकन करेगा। जिसकी रसना को क्षण भर को भी नामामृत रस का स्वाद मिल गया हो, वह अन्य के गुण दोषों का वर्णन कैसे करेगा ? मैं इनसे बहुत दूर हूँ, नरक के द्वारभूत काम, क्रोध तथा लोभ ने मेरा पिंड नहीं छोड़ा। अहङ्कारवश जो मैं अपने को त्यागी विरागी माने बैठा था, वह मेरा मिथ्याभिमान था, दम्भ था, मैं चाहता हूँ, निरन्तर भगवत् चिन्तन, भगवत गुण श्रवण हो, सो हो नहीं पाता। सांसारिक वस्तुओं में से आकर्षण कम नहीं होता। मैं अपनी इस उभयभ्रष्ट स्थिति पर लज्जित हूँ, दुखित हूँ। "भागवती कथा" के पाठकगण ऐसा आशीर्वाद दें—यदि आशीर्वाद भारी शब्द प्रतीत होता हो, तो ऐसी मनोकामना करें—प्रभु से प्रार्थना करें—कि मेरा चित्त सासारिक पदार्थों की ओर न देखकर प्रभु पादपद्मों की ही ओर लगा रहे। मेरी जिह्वा निरन्तर नामामृत का ही पान करती रहे, मेरे हृदय मे निरन्तर वही त्रिभङ्गललित माधुरी मूरति नृत्य करती रहे। मेरे कर्ण कुहरों मे यही एक ध्वनि सदा भरी रहे।

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

भूसीसंकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
कार्तिक शु० । २००४

सबका स्नेह भाजन,
प्रभुदत्त

छद्मवेषीइन्द्र द्वारा दिति का गर्भोच्छेद

(४४३)

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥
नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत ॥

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ५६, ५७ श्लो०)

छप्पय

यों कहि विधि के सहित बतायो मुनिवर ने व्रत ।
धारयो दिति ने तुरत लगायो निज हित महँ चित्त ॥
मौसी को सकल्प जानि सुरपति घबराये ।
परे सोच में अधिक तुरत तिहि आश्रम आये ॥
छिद्रान्वेषनके निमित, वेष बदलि बालक बने ।
करें टहल नित कपट ते सदा रहें चित अनमने ॥

मनुष्य सुखों को जीवन की आशा से धैर्य पूर्वक सहन कर सकता है। यदि उसे जीवन का ही भय हो जाय,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! जब बुद्धिमान् इन्द्र ने अपनी मौसी दिति के मन के अभिप्राय को समझ लिया तो वे आश्रम

तब उसका धैर्य छूट जाता है। और वह प्राणपन से मृत्यु को हटाने की चेष्टा करता है। सभी प्राणी मृत्यु से बचने के लिये ही निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। किसी प्रकार मृत्यु न आवे हम जीवित बने रहें यही प्राणिमात्र की भावना रही है। जिनके हृदय में से मृत्यु का भय भाग गया। जिन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु को अपना लिया वे ससार बन्धन से मुक्त होकर मुक्तिपति के ही बन गये। तदीय हो गये। जब तक जीवित रहने की आशा है, तब तक सभी उपायों से मृत्यु को हटाने का प्रयत्न चलता रहता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! कितना भी छिप कर पाप पुण्य करे, वह कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है। क्योंकि आदित्य, चन्द्र, सूर्य, पचभूत, दिशायें, धर्म ये तो सब के मन की बातों को जान ही लेते हैं। इन्द्र को भी यह बात मय दानव से मालूम पडगई कि मेरी मौसी दिति देवी मुझे मारने के लिये पुसवन व्रत कर रही है। उसके गर्भ में मेरे तेजस्वी पिता का अमोघ वीर्य भी स्थापित हो चुका है। मेरे पिता सत्य सकल्प हैं, वे कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोलते। यदि मेरी मौसी का एक वर्ष का व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब तो उसके गर्भ से मुझे मारने वाला पुत्र पैदा हो ही जायगा। यदि किसी प्रकार इसके व्रत मे विघ्न पड जाय तो यह गर्भ व्यर्थ हो जायगा। अब जैसे हो तैसे इसके व्रत में

म रहने वाली दिति की सेवा सुश्रूषा करने लगे उसके लिये वे नित्य ही वन से दोनों समय फल, फूल, मूल, दूब, समिधा कुशा, हाथ पैर धोने की मृत्तिका तथा जल आदि आवश्यक वस्तुएँ ला लाकर देते रहे।"

विघ्न करना चाहिये। विघ्न भी मैं क्या कर सकता हूँ। जब तक यह नियम पूर्वक रहेगी, सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करेगी, तब तक मैं क्या कोई भी इसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

इस बात को सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! दिति के गर्भ की बात मय को कैसे मालूम पड गई और यदि मालूम भी हो गई हो तो घर की बात उसने देवताओं के राजा इन्द्र को क्यों बता दी।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! मयासुर सभी मायाओं का पंडित है। वह अपनी माया से सब कुछ जान लेता है यह भी तो असुर ही था। दिति के घर की बातें सब जानता था। मित्रता के वशीभूत होकर इसने इन्द्र से सब सत्य सत्य बात कह दी।"

यह सुनकर और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी आप एक से एक अद्भुत बात बता रहे हैं। देवताओं और असुरों का तो वैसे ही स्वाभाविक वैर है। फिर हमने सुना है कि मयासुर के भाई नमुचिको इन्द्र ने ही अपने वज्र से मार दिया था फिर भ्रातृहन्ता इन्द्र से मयासुर की मित्रता कैसे हो गई ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! इस विषय मे एक पौराणिक कथा है, उसे मैं आप को सुनाता हूँ। बात यह थी, कि पहिले नमुचि सब दैत्यों का राजा था। इधर इन्द्र देवताओं के राजा थे। दोनों मे बडा भारी घमासान युद्ध हुआ। इन्द्र को तो पराजित होने का शाप ही है, वे पराजित होकर युद्ध

से भाग खड़े हुए। इन्द्र को युद्ध से जाते देखकर नमुचि ने भी उनका पीछा किया। इन्द्र अपने पीछे नमुचि को आते हुए देख कर बहुत डर गये। वे ऐरावत को छोड़कर समुद्र के फेन में घुस गये। नमुचि को शाप था, कि वह न गीली वस्तु से मरेगा न सूखी से। तब इन्द्र ने वज्र को समुद्र के फेन मे लपेट कर नमुचि पर प्रहार किया नमुचि मर गया। इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।

मयासुर नमुचि का छोटा भाई था। अपने बड़े भाई की इन्द्र द्वारा मृत्यु सुनकर मय को बड़ा भारी क्रोध आया। उसने अपने भाई के वध करने वाले को मारने के संकल्प से घोर तप किया। तपस्या के प्रभाव से उसने ऐसी मायाओं को प्राप्त कर लिया कि जिन्हें देवता किसी प्रकार भी न जान सकें। व्यर्थ करना तो दूर की बात है। उसने अपनी कठोर तपश्चर्या से चराचर के स्वामी श्री हरि को भी प्रसन्न कर लिया और उसने श्रेष्ठ वर को भी प्राप्त किया। मयासुर बड़े यज्ञ करता, ब्राह्मणों का पूजन करता, याचकों को मुँह माँगा दान देता। उसके दान की सर्वत्र ख्याति हो गई। ब्राह्मण उसे हृदय से आशीर्वाद देने लगे। अब तो इन्द्र बड़े घबड़ाये। उन्हें न भोजन अच्छा लगता था न स्वर्गीय सुख। रात्रि दिन उन्हे यही चिंता लगी रहती थी, कि मैं मय से किस प्रकार बच सकूँ। जो इतना धर्म करता है, अपनी सेवा से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है, उसे मैं युद्ध मे किसी प्रकार पराजित नहीं कर सकता। फिर उसने भगवान् विष्णु से वर प्राप्त कर लिया है। अनेक मायाओं को जान लिया है। उससे तो मैत्री करने मे ही कल्याण है। यही सब सोच विचार कर इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर

मय के समीप गये। और याचकों की सी दीन वाणी मे बोले--"राजन्! आज कल ससार में आपके दान की सर्वत्र ख्याति है। मैंने सुना है, आप के द्वार से कोई याचक विमुख नहीं जाता। इसी आशा से मैं आपके यहाँ आया हूँ, आप मेरी भी इच्छा पूरी कीजिये। मुझे मनोवाछित वस्तु दीजिये।

ऐसे योग्य ब्राह्मण को देखकर मयासुर के रोम-रोम खिल उठे। उसने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा--"विप्रवर! मैं कृतार्थ हुआ। आप अपनी इच्छा को पूरी हुई ही समझें आप को जो भी माँगना हो नि.सकोच माँग लें।

विप्र वेषधारी ने कहा--"यदि आप मुझे मेरी मनोभिलाषित वस्तु देना ही चाहते हैं तो मैं आप से मैत्री चाहता हूँ। आप मुझे अपना मित्र बना ले।

साश्चर्य के साथ मय ने कहा--"ब्रह्मन! आप ये कैसी बाते कर रहे हैं। मैं तो ब्राह्मणों का दास हूँ। मेरी आप से कभी शत्रुता हुई हो, तो मित्रता करूँ भी। मेरा तो आज ही आप से परिचय हो रहा है। मित्रता क्या मैं तो आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ ही। आप और कोई वर माँगिये।"

मयासुर की ऐसी स्नेहभरी उदारता पूर्ण वाणी सुनकर इन्द्र अपने यथार्थ रूप मे प्रकट हो गये। मय अब क्या करता सज्जनो के वचन तो एक बार ही निकलते हैं और उन्हे जीवन भर निभाते हैं। उन्होने दु.ख प्रकट नहीं किया। बड़ी प्रसन्नता से आश्चर्य प्रकट करते हुए इन्द्र से कहने लगे--"अरे, आप तो वज्रपाणि देवेन्द्र निकले। देखिये इस प्रकार दीन होकर भीख

माँगना आपके अनुरूप नहीं है।"

इन्द्र ने प्रेम और लज्जा से सिर नीचा करके कहा—"बंधुवर! जब प्राणों का संकट उपस्थित हो जाय तो बुद्धिमान् पुरुष को जिस किसी उपायसे हो अपनी रक्षा करनी चाहिए। मैं जानता था आपसे युद्ध करके मैं किसी प्रकार नहीं जीत सकता इसीलिये इस उपाय का अवलम्ब लिया। अस्तु, अब तो हम दोनों मित्र हो ही गये।"

मयासुर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हाँ अब तो हमारी आपकी प्रगाढ़ मैत्री हो गई। यह कह कर मय ने इन्द्र को हृदय से लगा लिया और दोनों प्रेम के साथ रहने लगे। मय ने इन्द्र को समस्त माया भी सिखाई और हृदय से उनके साथ मैत्री निभाने लगा।

जब उसने सुना कि माता दिति ने इन्द्र के नाश के निमित्त भगवान् कश्यप से गर्भ धारण किया है और उसका व्रत पूरा हो गया, तो उससे इन्द्र को मारने वाला पुत्र होगा, तो मैत्री भाव से उसने इन्द्र से आकर सब बातें सच सच कह दीं।

इस बात को सुनकर इन्द्र बड़े घबड़ाये और उन्होंने अपने मित्र मयासुर से पूछा—"भैया, अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ? इस विपत्ति से मेरा कैसे छुटकारा हो? कैसे मैं दिति के भारी गर्भ के भय से बच सकूँ? तब मय ने इन्द्र को सब बातें बताई कि दिति इस समय अगस्त्य जी के आश्रम पर रहती है। वहाँ जाकर तुम रहो और उसके व्रत में विघ्न करो।"

मय की बात सुनकर देवराज इन्द्र ने कहा—"बन्धुवर! इस समय मेरी बुद्धि तो कुछ काम नहीं दे रही है

यदि ऐसा वैसा कोई राजस तामस देवता का व्रत होता तो मैं किसी प्रकार विघ्न भी कर सकता था। यह है वैष्णव व्रत। इसमें मैं स्वयं तो कुछ विघ्न करने मे समर्थ नहीं। हॉ दैव वशात् इससे ही कोई त्रुटि हो जाय, तो अवश्य विघ्न हो सकता है। क्योंकि मेरे पिता ने इससे यही कहा है। अब मुझे जैसे हो तैसे सदा एक वर्ष पर्यन्त इसी के समीप रह कर इसके व्रत के छिद्रों को देखते रहना चाहिये।

ये सब बातें मय से कह कर उसकी सम्मति से देवराज इन्द्र ने एक ७, ८, वर्ष के छोटे से बालक का रूप रख लिया और जाकर दिति के पास रोने लगे। माताओं का स्वभाव तो दयायुक्त होता ही है। विशेष कर दुखी बालक को देख कर मातृ हृदय पिघलने लगता है। फिर वह बालक किसी का क्यो न हो। दिति ने बड़े प्यार से पूछा—"बेटा! तू कौन है? क्यों रोता है? क्या चाहता है? तुझे जो कष्ट हो वह मुझे बता।

बालक वेषधारी देवेन्द्र आँसू पोछते हुए बोले—"माँ! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई भी नहीं। मुझे अपने जीवन की भी आशा नहीं। यदि आप मुझे आश्रय दे दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं। मैं आप की शक्तिभर सेवा किया करूँगा। मुझे केवल खाने को अन्न मात्र चाहिए।

दिति उस बच्चे के भोलेपन पर रीझ गई। उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"बेटा! तू बड़े आनन्द से रह। तेरी इच्छा हो सो काम कर लिया कर। जो न इच्छा हो मत किया कर। तुझे किसी बात का कष्ट न होगा।

भोजन विश्राम का कहाँ अवकाश था।

इन्द्र ऊपर से तो सेवा करते थे, किन्तु भीतर ही भीतर उन्हें भय बना रहता था। वे सोचते थे—'कहीं इसका व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया तो मेरा कुशल नहीं है। वे सर्वदा दिति के व्रत मे छिद्र देखते रहते थे। तनिक सा भी कोई छिद्र मिले तो मैं इसके गर्भ में हानि पहुँचाऊँ। ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते थे, त्यों-त्यों इन्द्र की चिन्ता बढती जाती थी वे अपने को उसी प्रकार छिपाये हुए थे जैसे व्याध मृग का चर्म ओढ़कर मृग को फँसाने के लिये अपने को छिपाये रहता है। वे अपने को इसी प्रकार प्रकट नहीं होने देते थे, जैसे विधवा अपने गर्भ को प्रकट नहीं होने देती। जैसे कजूस अपने धन को छिपाये रहता है। जैसे राजा अपनी गुप्त मत्रणा को छिपाता है, जैसे चोर चोरी के धन को छिपाता है, जैसे चटोरी स्त्री मिठाई को छिपाकर रखती है। जैसे कुलीना कामिनी अपने अगो को छिपाये रखती है, जैसे शीलवान् पुरुष अपने दान-पुण्य और सत्कर्मों को छिपाकर रखते हैं। इन्द्र यह प्रकट होने देना नहीं चाहते थे कि मैं इन्द्र हूँ और किसी स्वार्थ-वश सेवा कर रहा हूँ। वे अपने व्यवहार से अपने को निस्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। ये व्रत मे स्थित दिति के व्रत को भग करने के निमित्त अवसर को देखते हुए बड़ी तत्परता से उसकी टहल करने लगे।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार सेवा करते करते इन्द्र को लगभग एक वर्ष हो गया। वर्ष मे दो चार दिन ही शेष रहे थे। वे निरन्तर उसके छिद्रान्वेषण

में ही लगे रहते थे। एक दिन की बात है, व्रत करते-करते वह अत्यन्त क्षीण हो गई थी। विधि के विधान से वह विमोहित सी बन गई थी। शरीर में बड़ी सुस्ती सी आने लगी। सायंकाल का समय था, उसने कुछ खा लिया था। खाकर न मुख धोया न आचमन किया। वैसे ही बिना पैर धोये वह शैया पर केश खोले उलटी पड़ गई। पड़ते ही नींद आ गई और सो गई।

इस अवस्था में उसे सोते देखकर इन्द्र को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। एक तो सन्ध्या के समय सोना ही पाप है। फिर उच्छिष्ट मुख से बिना पैर धोये केश खोले उलटी शैया पर सो रही थी। यह उसके व्रत में बड़ा भारी छिद्र था। बस, अब क्या था। इन्द्र योगी तो थे ही अपने योग बल से अत्यन्त लघु रूप बना कर वज्र लेकर उसके पेट में घुस गये। गर्भ पूरा हो चुका था। दिति श्रम के कारण अचेत हुई सो रही थी। उसे कुछ पता ही नहीं था कि मेरे पेट में क्या हो रहा है। इन्द्र ने अपने वज्र से उस सुवर्ण की सी कान्ति वाले तेज से जाज्वल्यमान् गर्भ के सात टुकड़े कर डाले। टुकड़े होने से वे सब के सब रोने लगे। इन्द्र को भय लग रहा था। ये बच्चे रो पड़े तो दिति जग जायगी और मुझे शाप देकर भस्म कर डालेगी। इसलिये वे बार बार कह रहे थे मा-रुद् मा-रुद् अर्थात् रोओ मत, रोओ मत। जब सात टुकड़े करने पर भी वे न मरे और एक के सात बच्चे बन गये तब इन्द्र ने फिर अपने वज्र से एक

एक के सात सात टुकड़े कर डाले। इस पर वे ४९ हो गये। भगवान् की ऐसी कृपा कि वे पूरे ४९ जीवित बच्चे बन गये। उन सब ने हाथ जोडकर इन्द्र से कहा—"हे देवेन्द्र! तुम हमे क्यों मारना चाहते हो? हमारे तुम्हारे पिता तो एक ही हैं।" हम तो तुम्हारे भाई हैं। भाई को भी भला भाई मारता है।" यह सुनकर इन्द्र बडे प्रसन्न हुए और बोले—"तुम मुझे मारोगे तो नहीं? जब भाई को भाई नहीं मारता तो मैं भी तुम्हें न मारूँगा। आज से तुम ४९ मरुद्गण मेरे प्रधान पार्षद् हुए।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो एक गर्भ के ४९ टुकडे होने पर भी वे मरे क्यों नहीं? सब के सब जीवित कैसे रह गये?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—'अब राजन! इस विषय मे क्या कहें? यही कहना पडता है कि यह भगवान् की माया है। उनकी ऐसी ही इच्छा थी। भगवान् की माया के सम्मुख कुछ असम्भव नहीं। वे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-शक्य." कहे जाते हैं। असभव का सभव और सभव को असभव कर सकते हैं। मरुद्गण तो नित्य हैं। उनको शरीर धारण करना था। वे दिति के गर्भ मे प्रवेश किए। गर्भ एक था मरुद्गण सख्या में ४९ होते हैं अत. इन्द्र को ४९ भाग करके एक निमित्त भगवान् ने बना दिया। वसे नित्य मरुद्गणों को कोन मार सकता है। फिर जिन भगवान का सच्चे हृदय

में प्रेम पूर्वक मरते समय नाम लेने से मनुष्य अमर हो जाता है, उन्हीं भगवान् की दिति ने तो कुछ दिन कम एक वर्ष तक आराधना की थी। इसीलिये एक के ४९ टुकड़े करने पर भी वे मरे नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब गर्भ में ही दोनों मे सुलह हो गई तो ४९ मरुद् और पचासवें इन्द्र इस प्रकार ये सबके सब मरुद्गण कहलाये। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये दैत्य नहीं कहाये। इन्द्र के सम्बन्ध से इनकी देवताओं मे ही गणना हो गई। जहाँ यज्ञो में इन्द्र को तथा अन्य देवताओं को हविर्भाग सोमभाग मिलता है, वहाँ इन्द्र के साथ इनको भी भाग मिलता है। ये यज्ञ भागभुक् कहे जाते हैं। इस प्रकार दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये देवता ही माने गये। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा था उसका मैंने उत्तर दे दिया अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! मरुद्-गणों की कथा सुनकर मुझे सुख हुआ। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जब दिति को यह सब समाचार विदित हुआ तब उसने क्या किया? उसने क्रुद्ध होकर इन्द्र को शाप तो नहीं दिया?"

इस पर श्रीशुक बोले—"अच्छा राजन्। मैं आगे की भी

कथा कहूँगा उसे आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

लावे नित प्रति फूल मूल जल फल अरु अङ्कर।
छिद्रान्वेषी बने रहे सेवा महँ तत्पर॥
बिनु पग धोये साँझ समय सोईं इक दिन दिति।
व्रत को छिद्र निहारि उदर महँ प्रविशे सुरपति॥
करे वज्र तें गर्भ के सात खण्ड पुनि रुदन सुनि।
मा रुद् कहि मारुत् भये, एक एक के सात पुनि॥

—.००.—

मरुद्गण चरित की समाप्ति

(४४४)

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ?

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ७७ श्लो०)

छप्पय

उनचास सुत भये इन्द्र प्रकटे सुर पालक।
दिति पूछें व्रत करयो एक हित च्यौं बहु बालक॥
इन्द्र अदिते अन्त सत्य सब वृत्त बतायो।
छद्मवेष च्यौं धरयो बिना छल कहि समुझायो॥
सुनि दिति अति सन्तुष्ट है, बोली काट्यो गर्भकूँ।
होहि बन्धु तव मरुद्गन, सब जाओ मिलि स्वर्गकूँ॥

सत्य एक ऐसी वस्तु है कि शत्रु के हृदय पर भी उसका प्रभाव पडता है। हम दुःख को मिटाने के लिये असत्य भाषण करते हैं। किन्तु उससे दुःख कुछ काल को घटा हुआ सा भले

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब इन्द्र ने सब सच बातें बतादीं तो उसने शुद्ध भाव से दिति परम सन्तुष्ट हुई। तदनतरदेवराज इन्द्र उन्हें प्रणाम करके तथा उनकी आज्ञा लेकर मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये।

ही प्रतीत हो। किन्तु उसका परिणाम दुखद ही होता है। किन्तु सत्य भाषण से आरम्भ में दुःख और विपत्ति भी आती हुई दिखाई दे, तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि विजय सदा सत्य की होती है। असत्य की विजय नहीं होती। हम से कोई बड़ा का अपराध बन गया है और हम बड़ी नम्रता से पश्चात्ताप के सहित सब सच-सच बात बता देते हैं, तो उन पर सत्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक कहानी है, कि तीर्थ यात्रा में कुछ लोगों के साथ एक बालक भी जा रहा था। रास्ते में डाकू मिले उन्होंने सब को लूट लिया। सब को लूट कर जब वे चलने लगे, तो उस भोले बच्चे से जाकर डाकुओं के सरदार ने पूछा—"क्यों बच्चे तेरे पास तो कुछ नहीं है?" उसने कहा—"जी, मेरे पास ५० मुहरें हैं।' डाकू सरदार ने उसके सम्पूर्ण शरीर को खोजा। कहीं भी उसे मुहर नहीं मिली। तब तो उसने क्रोध में भरकर कहा—'क्यों रे बच्चे! तू मुझसे हँसी करता है? तेरे पास तो कुछ भी नहीं?"

बच्चे ने कहा-"जी, आप मेरी रजाई को फाड़कर देखें। उसकी रुई के बीच बीच में छिपी मुहरें सिली हुई है।" सरदार ने रजाई को फाड़ा उसमें सचमुच ५० ही मुहरें सिली हुई थीं। इस पर सरदार ने पूछा 'बच्चे! तेने इतना छिपा धन क्यों बता दिया। यदि तू न बताता तो तेरा यह धन तो बच ही जाता, क्योंकि बिना बताये कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था कि, इस मैली कुचैली रजाई में ५० मुहरें होंगी।" इस पर उस बालक ने कहा सरदारजी, मेरी माँ ने चलते समय कहा था, "झूठ मत

बोलना इसीलिये मैंने सब बात सच-सच कह दी।" बच्चे के सत्य का डाकुओं के सरदार के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसने सब के लूटे हुए धन को लौटा दिया। एक के सत्य के पीछे सब का धन बच गया। अतः सत्य भाषण से सदा मङ्गल ही होता है। अमङ्गल नहीं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति के गर्भ में घुसकर इन्द्र ने उसके गर्भ के ४९ टुकड़े कर दिये और वे ७ के पृथक्-पृथक् ७-७ गण हो गये तो उनके साथ इन्द्र गर्भ के बाहर आये। उसी समय दिति की आँखें खुल गईं। उसने देखा इन्द्र के साथ ४९ बालक प्रेम के साथ भाई-भाई की भाँति खेल रहे हैं। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस लड़के के साथ ये भाई की भाँति व्यवहार क्यों कर रहे हैं और मैंने तो एक पुत्र के लिये पुंसवन व्रत किया था। ये ४९ बालक कैसे हो गये। यही सब सोचकर वह उस बालक वेषधारी इन्द्र से बोली—"बेटा! मैंने तो अपनी सौत अदिति के पुत्रों को भय पहुँचाने के निमित्त एक ही पुत्र के लिए यह व्रत अनुष्ठान किया था। मेरी संकल्प परम पराक्रमी इन्द्रहन्ता एक ही पुत्र के लिये था, फिर ४९ पुत्र क्यों हुए? और ये सब तेरे साथ भाई का सा बर्ताव क्यों करते हैं? यदि तू इसका कुछ रहस्य जानता है तो मुझे सत्य सत्य बता दे। छल कपट मुझसे मत करना।"

अपनी मौसी दिति की ऐसी बात सुन कर इन्द्र ने बनावटी

रूप त्याग दिया। वे वज्र हाथ में लिए हुए सज्ञान देवेन्द्र के

रूप में प्रकट हो गये और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनय के साथ बोले—"माता, मैं तुम्हारे सङ्कल्प को सुनकर ही सदा

तुम्हारी सेवा मे रहने लगा था।"

दिति ने पूछा—"तुमने तो मेरी निःस्वार्थ भाव से बड़ी लगन के साथ सेवा की थी।"

देवेन्द्र ने कहा—"माँ! मैंने निःस्वार्थ भाव से सेवा नहीं की थी। मैंने निःस्वार्थ भाव को छिपा रखा था। ऊपर से निःस्वार्थता प्रकट करता था। मुझे धर्म का कोई विचार नहीं था। मैं तो बड़ी सावधानी से आप के समीप रहकर आपके व्रत में छिद्रों को देखा करता था, कि कब आपके व्रत मे छिद्र हो और कब आप का व्रत भंग हो। देवि! आज आप बाल खोले सन्ध्या के समय उलटी खाट पर उत्तर सिर करके सो रही थीं। एक तो सन्ध्या समय मे सोना पाप है दूसरे बाल खोले उलटी खाट पर, तीसरे आपका मुख जूठा था। चौथे आप बिना हाथ पैर धोये ही सो गईं। इन दोषों के कारण आपका व्रत भंग हो गया। व्रत मे छिद्र होने से मुझे साहस हुआ और आपके उदर मे घुसकर आपके गर्भ के ४९ टुकड़े मैंने कर-डाले। पहिले मैंने ७ टुकड़े किये थे। जब ७ टुकड़े करने पर भी न मरे, तो फिर एक एक के सात सात टुकड़े किये। ४९ होने पर भी जब न मरे तब तो मैं आश्चर्य चकित हो गया और समझ गया कि यह तो सबके जीवन-दाता परम पुरुष श्रीमन्नारायण की ही उपासना से प्राप्त होने वाली कोई सिद्धि है। माँ! मैंने अपने जीवन की रक्षा के लिये स्वार्थ भाव मे प्रेरित होकर सेवा की। मैं बड़ा नीच हूँ। सेवा तो सदा स्वार्थ भाव को छोड़कर करनी चाहिए। मोक्ष की भी इच्छा न रखनी चाहिए। जिन्हें संसारी स्वार्थ की आकांक्षा नहीं, वास्तव मे तो वे ही स्वार्थ

कुशल नर हैं। जो नाशवान् तुच्छ भोगों की इच्छा से भगवान् को भजते हैं, वे तो जान बूझकर अपने लिये कुआ खोदते हैं नरक का मार्ग प्रशस्त करते हैं।"

दिति ने कहा—'इतना सब जानते हुए भी तेंने ऐसा गर्भ हत्या का पाप क्यों किया ?"

इन्द्र ने लज्जित होकर कहा—अब माता जी! इसका में क्या उत्तर दूँ। यह मेरी क्षुद्रता ही है। स्वार्थी क्षुद्र पुरुष सदा क्षुद्रता ही करते हैं। वडे लोगों की सदा बड़ी ही बातें होती हैं। माँ! तुम सब प्रकार से बड़ी हो। मेरी माता की सहोदरा भगिनी हो पूज्य पिता की प्यारी पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो। अब तो मैं आप के उदर मे प्रवेश करके आप के बच्चों के साथ फिर से पैदा हुआ हूँ, फिर से मेरा नया जीवन हुआ है, अत: मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। मैंने की तो दुष्टता ही है। किन्तु जिनके रक्षक श्री हरि हैं, उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। सौभाग्य की बात है, कि मेरी इतनी क्रूरता करने पर भी आपके सबके सब बालक जीवित हैं और मुझसे द्वेष न करके सगे भाई की भाँति स्नेह करते हैं।"

इन्द्र की ऐसी सत्य और तथ्यपूर्ण बात सुनकर दिति उन पर बड़ी प्रसन्न हुई। उन्होंने कहा—अच्छी बात है बेटा! भगवान् की जो इच्छा होती है, वही होता है। मनुष्य सोचता है कुछ, हो जाता है कुछ। बड़े सौभाग्य की बात है कि ये बच्चे तुम्हें अपना भाई मानते हैं। तू भी मेरे पेट मे से फिर उत्पन्न हुआ है अत उनचास ये और एक तू सब मिलकर तुम ५

कहाओगे। ये तेरे प्रधान पार्षद् होंगे। सदा तेरे समीप सेवा में समुपस्थित रहा करेंगे। तू इन सब को संग लेकर हर्ष के सहित स्वर्ग चला जा। मैं तेरे शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हूँ।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन्! दिति के ऐसे भाव को देखकर इन्द्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपना नूतन ही जन्म समझा। वे दिति को प्रणाम करके और मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। इस प्रकार मरुद्गण दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी सोमपायी देवता हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मरुद्गणों की उत्पत्ति का प्रसंग कहा अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो जिस पुंसवन व्रत को देवी दिति ने किया था, उस व्रत को मैं विधि पूर्वक और सुनना चाहता हूँ। क्योंकि यह वैष्णव व्रत है, इसके करने से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसकी विधि मुझे बतलाइये। कबसे किया जाता है कैसे पूजनादि होता है?

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते—"मुनियो! महाराज परीक्षित के प्रश्न करने पर श्री शुकदेव जी ने इस पर परम पावन वैष्णव व्रत की विधि बताई तथा कैसे पूजा करनी चाहिये किस मंत्र का जप करना चाहिए, किस मंत्र से हवन करना चाहिए। कब से यह व्रत आरम्भ करना चाहिए ये सब बताईं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी इस व्रत को हमें भी बताइये।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग में अगन्यास करन्यास आदि विधि विधानो को बताने लगूँ, तो कथा का प्रवाह रुक जायगा। अत. मेरी इच्छा ऐसी है, इन व्रतादिको को इकट्ठा ही प्रसगानुसार बताऊँगा। फिर आपकी ऐसी आज्ञा हो।

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, यही सही किन्तु हम उन ४९ मरुद्गण का नाम और जानना चाहते हैं। यदि आपको याद हों तो हम सुनाव।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! आप की कृपा से मुझे याद तो सब हैं, किन्तु ये सब के सब मरुद्गण ही कहलाते हैं। वैसे उनके नाम भी है सुनिये—

१—एकज्योति २—द्विज्योति ३—त्रिज्योति, ४—चतुर्ज्योति, ५—ज्योति, ६—एक शक्र, ७—द्विशक्र, ८—त्रिशक्र, ९—इन्द्रगति, १०—प्रतिसकृत, ११—मित, १२—सम्मित, १३—अमित, १४—ऋत जित्, १५—सत्यजित, १६—सुषेण, १७—सत्यजित्, (द्वितीय) १८—अतिमित्र, १९—नमित्रे, २०—पुरमित्र, २१—पुराजित्, २२—ऋत, २३—ऋतधाता, २४—विधाता, २५—धारण, २६—ध्रुव, २७—विधारण, २८—महातेजा, २९—ईदृक्ष, ३०—अदृक्ष, ३१—एतादक, ३२—अमिताशन, ३३—कीर्तित, ३४—प्रसदृक्ष, ३५—सरभ, ३६—धातु, ३७—उग्र, ३८—ध्वनि, ३९—भीम, ४०—अतिमुक्त, ४१—चिप, ४२—सह, ४३—द्युति, ४४—वपु, ४५—अताधृष्य, ४६—वास, ४७—काम, ४८—जय, ४९—विराट्।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने मरुद्गण उत्पत्ति

कहाओगे । ये तेरे प्रधान पार्षद् होंगे। सदा तेरे समीप सेवा में समुपस्थित रहा करेंगे। तू इन सब को संग लेकर हर्ष के सहित स्वर्ग चला जा। मैं तेरे शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हूँ।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन्! दिति के ऐसे भाव को देखकर इन्द्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपना नूतन ही जन्म समझा। वे दिति को प्रणाम करके और मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। इस प्रकार मरुद्गण दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी सोमपायी देवता हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मरुद्गणों की उत्पत्ति का प्रसंग कहा अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो जिस पुंसवन व्रत को देवी दिति ने किया था, उस व्रत को मैं विधि पूर्वक और सुनना चाहता हूँ। क्योंकि यह वैष्णव व्रत है, इसके करने से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसकी विधि मुझे बतलाइये। कबसे किया जाता है कैसे पूजनादि होता है?

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते—"मुनियो! महाराज परीक्षित के प्रश्न करने पर श्री शुकदेव जी ने इस पर परम पावन वैष्णव व्रत की विधि बताई तथा कैसे पूजा करनी चाहिये किस मंत्र का जप करना चाहिए, किस मंत्र से हवन करना चाहिए। कब से यह व्रत आरम्भ करना चाहिए ये सब बताईं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी इस व्रत को हमें भी बताइये।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग मे अगन्यास करन्यास आदि विधि विधानों को बताने लगूँ, तो कथा का प्रवाह रुक जायगा। अतः मेरी इच्छा ऐसी है, इन व्रतादिकों को इकट्ठा ही प्रसगानुसार बताऊँगा। फिर आपकी जैसी आज्ञा हो।

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, यही सही किन्तु हम उन ४६ मरुद्गण का नाम और जानना चाहते हैं। यदि आपको याद हों तो हमे सुनावें।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! आप की कृपा से मुझे याद तो सब हैं, किन्तु ये सब के सब मरुद्गण ही कहलाते हैं। वैसे उनके नाम भी है सुनिये—

१—एकज्योति २—द्विज्योति, ३—त्रिज्योति, ४—चतुर्ज्योति, ५—ज्योति, ६—एक शक्र, ७—द्विशक्र, ८—त्रिशक्र, ९—इन्द्रगति, १०—प्रतिसकृत, ११—मित, १२—सम्मित, १३—अमित, १४—ऋत-जित्, १५—सत्यजित, १६—सुषेण, १७—सत्यजित्, (द्वितीय) १८—अतिमित्र, १९—नमित्रे, २०—पुरुमित्र, २१—पुराजित्, २२—ऋत, २३—ऋतधाता, २४—विधाता, २५—धारण, २६—ध्रुव, २७—विधारण, २८—महातेजा, २९—ईदृक्ष, ३०—अदृक्ष, ३१—एतादृक, ३२—अमिताशन, ३३—क्रीतिन, ३४—प्रसदृक्ष, ३५—सरभ, ३६—धातु, ३७—उग्र, ३८—ध्वनि, ३९—भीम, ४०—अतिमुक्त, ४१—क्षिप, ४२—सह, ४३—द्युति, ४४—वपु, ४५—अनाधृष्य, ४६—नास, ४७—काम, ४८—जय, ४९—विराट्।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने मरुद्गण उत्पत्ति

प्रकरण सुनाया। इसके सुनने सुनाने से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। इस देवासुरवंश के श्रवण के अनन्तर जो महाराज परीक्षित् ने भक्ति को बढाने वाला अत्यन्त ही दिव्य प्रश्न पूछा है उसे मैं आप से कहूँगा इसमें दैत्यकुलभूषण भक्ताग्रगण्य महामना प्रह्लादजी का परमपावन चरित्र होगा।

छप्पय

दिति आयसु सिरि धारि मरुद्‌गण स्वर्ग सिधाये।
इन्द्र भये अति मुदित प्रान फिरितें जनु पाये॥
यों दिति के ये पुत्र इन्द्र पार्षद् कहलाये।
मातृदोष कूँ त्याग असुर कुलतें निलगाये॥
परम पुण्य प्रद मरुद्‌गण, को चरित तुमतें कह्यो।
अन्य प्रश्न पूछो नृपति! यह प्रसङ्ग पूरन भयो॥

भगवान् में विषमता क्यों

(४४५)

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अब पूछें पुनि नृपति प्रभो ! शंका इक भारी ।
समदरशी भगवान् सुहृद सब के सुखकारी ॥
तब क्यों देवनि हेतु फेरि दैत्यनि कूँ मारें ।
क्यों अमरनि को पक्षलेहिँ असुरनि सहारें ॥
नारायन के गुननि, प्रति, शंका मो मन महँ भई ।
ताहि नाश भगवन् करें, बात हिये की कहि दई ॥

वेद शास्त्र के वचनों से विश्वास न करना ही नास्तिकता कहलाती है। वेद शास्त्रों के वचनों को सत्य मान कर उनके आधार पर परस्पर में विरोधी से वचन जान पड़ते हों उनका

महाराज परीक्षित् श्री शुकदेव जी से पूछते हैं—'ब्रह्मन् ! श्री भगवान् तो सभी प्राणियों के स्वभाव के ही प्रिय हैं। उनके लिये सभी प्राणी समान हैं वे सब के सुहृद् हैं, फिर वे इन्द्र के लिये विषम दृष्टि पुरुषों की भाँति दैत्यों का वध क्यों करते हैं।

समन्वय करना, मीमांसा करना, इसी का नाम आस्तिक दर्शन है। वैसे तो भगवान् जो भी करते हैं सब अच्छा ही करते हैं इसी बात पर विश्वास रखना चाहिये, किन्तु यदि कोई विरोधी बात जान पड़े, तो श्रद्धा पूर्वक उस विषय में शंका करना दोष नहीं। जिन्हें शंका उठे ही नहीं वे तो बड़भागी पुरुष हैं, किन्तु जिन्हें उठे उन्हें उसका महत्पुरुषों के समीप जाकर समाधान कर लेना चाहिये। महाराज परीक्षित् ने ऐसी ही एक सुन्दर शास्त्रीय शंका की।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब दक्ष की ६० कन्याओं के वंश की कथा समाप्त हो गई, तब महाराज परीक्षित् ने कथा का तार टूटने न पावे, इसलिये एक शंका उपस्थित की। महाराज ने भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! मैंने आपके मुख से अत्यन्त ही सुन्दर विदुर मैत्रेय सम्वाद सुना इस प्रसंग में हिरण्याक्षवध, देवासुरसंग्राम, वृत्रवध, दक्षप्रजापति की कन्याओं के वंश का वर्णन। देवताओं तथा दैत्यों की उत्पत्ति और मरुद्गणों का चरित्र ये सब कथायें सुनीं। इनमें मैंने अनुभव किया भगवान् देवताओं का पक्षपात करते हैं। वे अमरों के कहने से असुरों का संहार किया करते हैं। देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों को मारते हैं। इन्द्र के साथ स्वयं गरुड पर चढ़कर असुरों से युद्ध करते हैं उन्हें परास्त करते हैं। ऐसा भगवान् क्यों करते हैं? भगवान् तो समदर्शी हैं। उनके लिये तो जैसे ही देवता वैसे ही दैत्य।

मनुष्य दूसरों का पक्ष दो ही कारणों से लेते हैं, या तो एक से राग हो और दूसरे से द्वेष हो अथवा किसी प्रकार का लोभ हो। भगवान् की दृष्टि में तो प्राणी मात्र एक से हैं।

सभी उनकी सतानें हैं, अत. उन्हें न तो दैत्यों से किसी प्रकार का द्वेष उद्वेग हो है और न देवताओं से किसी प्रकार का राग हो। अब रहा लोभ का बात। लोभ उसे ह ता है, जो अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना चाहता हो। भगवान् क लिय कोई वस्तु अप्राप्य नहीं। ब्रह्मादिक देवता भी उन्हीं की दी हुई विभूति का उपभोग करते हैं। उनके ही दिय कण मात्र ऐश्वर्य से वे ऐश्वर्यशाली बने हुए हैं। वे साक्षात् कल्याण स्वरूप ही हैं। इस लिय यह भी नहीं कह सकते कि भगवान् किसी लोभ लालच से देवताओं का पक्ष ले लेते हो फिर वे ऐसा विषम व्यवहार क्या करते है ? इस विषय में मुझे बडी शका है। आप भगवन् ! सर्वज्ञ हैं, सब के विषयों के ज्ञाता हैं मेरी इस शका का समाधान कीजिये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! महाराज परीक्षित् की इस शका को सुन कर श्रीशुकदेवजी क्रुद्ध नहीं हुए। उन्होंने राजा को डॉटकर यह नही कहा, कि तुम बडे नास्तिक हो जी, भगवान् क विषय में शका करते हो ? उनको शका को असगत नहीं बताया। यही नहीं उन्होंने राजा के शका की प्रशसा की। इस बात को सुनकर उनका रोम रोम खिल उठा और राजा को साधुवाद देते हुए बोले—"महाराज आपने यह तो बडा ही सुन्दर प्रश्न किया। इस शका का तो परम्परागत सम्बन्ध श्री हरि के विचित्र चरित्रों के साथ है। इसका समाधान करते हुए उदाहरण मे आप से मैं परम भागवत श्री प्रह्लाद जी का चरित्र कहूँगा। आप कहते हैं भगवान् असुर से द्वेष करते हैं। तो प्रह्लाद जी भी असुर ही हैं। वे ससार में सर्वश्रेष्ठ भक्त माने जाते हैं। जहाँ परमभागवत भगवद्भक्तों की गणना की जाती है, वहाँ सर्वप्रथम श्री प्रह्लाद जी

का ही नाम लिया जाता है। असुर ही उनके यश का कीर्तन करते हो, सो भी बात नहीं। उनके यश का गान तो नारदादि बड़े-बड़े महर्षि देवर्षि तक करते हैं। मैंने अपने पिता भगवान् कृष्ण द्वैपायन के मुख से यह भक्ति विवर्धिनी कथा श्रवण की थी। अतः उस कथा को उनके पादपद्मों में प्रणाम करके मैं आरम्भ करूँगा। अब पहिले मैं आपकी शंका का संक्षेप में समाधान करके तब महा-भागवत प्रह्लादजी के परमपावन चरित्र को कहूँगा।

देखिये, इस जगत् में जो भी कुछ है। सब भगवान् का ही विलास है। भगवत् सत्ता में ही इस प्रपंच की सत्ता है। भगवान् को इससे पृथक् कर दीजिये तो कुछ भी शेष न रह जायगा। केले के पेड़ को लेके और उसके वल्कल को हटा कर चाहे कि हम केले के पेड़ को बनाये रखें, तो वह नहीं रहेगा उसके वल्कल को उतारते जाइये एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा निकलता जायगा। अन्त में कुछ न रहेगा। प्याज के छिलकों को निकाल कर आप चाहें प्याज का अस्तित्व बनाये रखें, तो नहीं रह सकता। सब पत्तों को पृथक् कर दीजिये कुछ भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार भगवान् वास्तव में निर्गुण अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृति से अतीत हैं। फिर भी अपनी विचित्र रूप माया का आश्रय लेकर स्वयं ही वाध्य बाधक भाव को प्राप्त हो गये हैं।

स्वयं ही संसार बन गये हैं, और स्वयं ही उसे प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे सूर्य आँखों में रह कर ज्योति प्रदान करते हैं यदि चक्षु के अधिष्ठातृदेव सूर्य न हों तो आँखें रहते हुए भी नहीं देख सकतीं। आखों में तो अधिष्ठातृ रूप से हैं और बाहर

प्रकाश रूप से हैं। आँखे हैं भी यदि बाहर प्रकाश न हो तो आँखों के रहते हुए भी नहीं देख सकते। इसी प्रकार वे ही प्रकाश्य हैं वे ही प्रकाशक हैं। आत्मा तो निर्गुण है। ये जो सत्य, रज और तम तीन गुण हैं ये आत्मा के नहीं प्रकृति के गुण हैं। जब भगवान् अपनी माया का आश्रय लेकर प्रकृति के गुणों मे विहार करने से दृष्टि गोचर होते है, तो इन गुणों मे न्यूनाधिकता दिखाई देने लगती है। साम्य मे सृष्टि नहीं। जब ये तीनों गुण साम्यावस्था मे रहते है, तो प्रकृति सोई रहती है वह कुछ भी नहीं कर सकती। जहाँ गुणो मे विषमता हुई कि ससार चक्र चलने लगता है। कोई गुण कम हो जाता है, कोई अधिक।

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! कब कौन से गुण का प्राबल्य होता है, कब किस किस गुण की न्यूनता होती है ?"

यह सुनकर शुक ने कहा—"इन गुणो की वृद्धि और ह्रास के कारण ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन युगों की कल्पना की गई है। किन्तु इन सब मे भगवान् की इच्छा प्रधान है। उनकी इच्छा को क्या कहना चाहिये उनकी क्रीडा ही प्रधान है। कभी सत्व बढ जाता है तो रज और तम घट जाते हैं, कभी रज बढ जाता है तो सत्व और तम न्यून हो जाते हैं और कभी तम बढ जाता है सत्व और रज दुर्बल से बन जाते हैं। तीनों का एक साथ न वृद्धि होती है न क्षति ही।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! कैसे जाने कि अब सत्व कि वृद्धि है, अब रजो गुण का प्राबल्य है, और अब तमोगुण की प्रधानता है ?

इस पर श्री शुकदेवजी ने उत्तर दिया—"देखिये राजन्! जिस समय भगवान् को सत्व गुण की वृद्धि करनी होती है उस समय भगवान् अपनी विशेष शक्ति से देवता ऋषि मुनि आदि सत्व गुणी प्राणियों में प्रवेश करते हैं। सर्वत्र सत्वगुण का ही बोलबाला होता है। यज्ञयाग, ज्ञानसत्र, सत्संग कथा वार्ता आदि की धूम मच जाती है। जब भगवान् को रजो गुण की वृद्धि करनी होती है, तो असुरों का बल बढ़ आता है देवता निर्बल हो जाते हैं, यहाँ तक कि नारदादि परम ज्ञानी मुनियों को भी उन असुरों के संकेत पर चलना पड़ता है वे त्रैलोक्य पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। सर्वत्र मार धाड़ मच जाती है सभी प्राणी कर्मों में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं, सब के चित्त चंचल हो जाते हैं। जैसे हिरण्ययाक्ष, हिरण्यकशिपु के समय में सब हो गये थे। इसके अनन्तर जब तमोगुण की वृद्धि करनी श्री हरि को अभीष्ट होती है, तो यक्ष राक्षसों की बढ़ती होती है। वे अत्यन्त निद्रालु, महान् प्रमादी और विषय लम्पट होते हैं। अधर्म को धर्म मानते हैं। उस समय ऋषि मुनि देवता गन्धर्व सभी का बल क्षीण सा हो जाता है सभी को राक्षसों के अधीन रहना पड़ता है। आत्मा इन तीनों गुणों से पृथक् है ?"

इस पर महाराज परीक्षित् जी ने कहा—"आत्मा यदि पृथक् है तो उसको प्रतीत होनी चाहिये। हमें तो भिन्न भिन्न देहों में भिन्न भिन्न आकृतियाँ भिन्न भिन्न नाम ही दिखाई देते हैं। इससे तो हम यही समझते हैं कि देह ही आत्मा है।"

इस पर हँस कर श्री शुकदेवजी बोले—"महाराज! शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा एक है, शरीर बहुत से हैं शरीर एक

देशीय है. आत्मा सर्वव्यापक है । अच्छा, तुमने अग्नि देखी है ?"

महाराज बोले—"हाँ, महाराज ! क्यो नहीं देखी है कहीं अग्नि गोल होती है, कहीं टेढ़ी, कही मोटी. कहीं बहुत, कहीं थोडी ।"

यह सुन कर श्री शुकदेवजी बोले—"राजन् यह जो आप टेढ़ी, मेढ़ी, छोटी, मोटी आदि आकृतियाँ देख रहे हैं ये अग्नि का नहीं। अग्नि तो अरूप तेजोमय है। उसका कोई रूप नहीं। जिस आश्रय मे प्रकट होती है, वैसी ही दीखने लगती है। लकडी टेढ़ी हुई तो अग्नि भी वैसी ही दीखती है। लोहे का गोला हुआ उसमे गोल दीखता है। उसके शान्त होने पर अग्नि का नाश नहीं होता, व्यष्टि अग्निशक्ति समष्टि अग्नि मे मिल जाती है। मिल जाती है यह कहना भी ठीक नहीं। आकाश सर्वव्यापक है। घट मे मठ मे सर्वत्र आकाश है। घट के फूट जाने पर घट का आकाश सर्वगत आकाश में मिल जाता है। अर्थात् उसमें जो घट-सम्बन्ध से व्यवधान सा दिखाई देता था वह नहीं रहता। आप काष्ठ आदि के अग्नि की उपलब्धि करना चाहें तो न होगी। अग्नि को प्रकट करने के निमित्त कोई आश्रय चाहिए। इसी प्रकार भिन्न भिन्न देहो मे भिन्न भिन्न रूपो से आत्मज्योति प्रकाशित हो रहा है। इसीलिये देहादि से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती। मूर्ख पुरुष जैसे काष्ठ लोहा आदि अग्नि प्रकाशित होने वाली पदार्थों को ही अग्नि कहते हैं वैसे ही अविवेकी पुरुष इन देहो को ही आत्मा मानते है। किन्तु मनीषी जन आत्मा काल से रहित है, "आत्मा स्वभाव से रहित है, आत्मा कर्मों से रहित है" ऐसे सभी वादों का बाध हुए अन्त मे उसे अपने अन्तःकरण में ही अन्तर्यामी

प्राप्त करते हैं। वे ही आत्मज्ञानी, जीवन्मुक्त भगवद्‌भक्त कहलाते हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"अब भगवन्! मुझे शंका इस बात का है, कि जब भगवान् पूर्ण काम हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, तो फिर वे काल कर्म, स्वभावों में विभिन्नता करके इस दृश्य प्रपंच में प्रविष्ट क्यों होते हैं ?"

इस पर शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी, राजन् प्रविष्ट कहाँ होते हैं ? प्रविष्ट हुए से दिखाई देते हैं। उसके बिना भी किसी की सत्ता ही नहीं। फिर जीवों के अनन्त कालीन अदृष्टों के कारण अपनी माया को भगवान् कर्म फल भुगाने के लिये प्रेरित करते हैं। या यों कह लो जब वे सोते-सोते थक जाते हैं तो कुछ विनोद करना चाहते हैं। नित्यपूर्ण काम का थकना और विनोद ये भी उपलक्षण मात्र हैं। हाँ, शब्दों में तो ये भाव अधूरे ही व्यक्त होते हैं। तो तब वे भिन्न-भिन्न शरीरों की रचना करना चाहते हैं। शरीरों की रचना के निमित्त रजोगुण को पृथक् उत्पन्न करते हैं। वे ब्रह्मा कहलाते हैं। वे नाना भाँति की सृष्टि कर डालते हैं। की हुई सृष्टि का पालन करते हुए उन में रमण करना चाहते हैं, तो वे सत्वगुण की सृष्टि करके विष्णु रूप में प्रकट होते हैं और मनु-मनु पुत्र इन्द्र देवता. सप्तर्षि तथा मन्वन्तरावतार इस प्रकार ६ रूपों में विभक्त होकर भाँति २ की क्रीड़ा करते हैं। सृष्टि की रक्षा करते हैं। जब संहार की इच्छा होती है, तो अपनी तमोगुणी मूर्ति रुद्रदेव को प्रेरित करते हैं। वे समस्त सृष्टि का संहार कर देते हैं। यही खेल प्रवाह रूप से नित्य चलता रहता है। भगवान् काल के अधीन नहीं हैं। स्वयं काल ही भगवान् के अधीन है।

वे कालों के भी काल हैं। ये कालदेव जगत् के निमित्तभूत प्रकृति और पुरुष के सहकारी तथा आश्रय रूप हैं। इसीलिये जब सत्वगुणी काल आ जाता है तब भगवान देवताओं का पक्ष लेकर असुरों से लड़ते हैं। असुरों को पराजित करते हैं। जब रजोगुण का काल आ जाता है तब देवताओं में बोलते भी नहीं क्षीर सागर में, तानदुपट्टा सोते रहते हैं लक्ष्मी जी तलुओं को सहराती रहती हैं। देवता पुकारते ही रहते हैं। उन्हें मार पीटकर असुर स्वर्ग पर अधिकार कर लेते हैं। सो राजन्! यह गुण प्रवाह चल रहा है। भगवान को न किसी से राग न द्वेष सत्व गुण की अभिवृद्धि के काल में वे सत्य प्रधान अमर समाज का उत्कर्ष करने के निमित्त असुरों का सहार करते से दिखाई देते हैं। वास्तव में देखा जाय तो उनके लिए सुर असुर, यक्ष, राक्षस, तिर्यक् मनुष्य आदि सभी चराचर के प्राणी समान है। इस विषय में हम आपको एक बड़ा सुन्दर प्राचीन उपाख्यान सुनाते हैं। उसके सुनने से आपकी शंका का समाधान हो जायेगा।"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कह कर मेरे गुरुदेव राजा परीक्षित को युधिष्ठिर नारद सवाद सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हँसि बोले शुकदेव-करी शङ्का नृप सुन्दर।
यह सब माया रचे प्रकृति पालक विश्वम्भर॥
आत्मा निर्गुण नित्य प्रकृति के ये तीनों गुन।
कबहुँ सत्व बढ़ि जाइँ कबहुँ तम कबहुँ रजोगुन॥
जब जैसे गुन बढ़त हैं, हरि तब तैसोई करें।
सत्व वृद्धि के समयमहँ, असुर मारि सुर दुख हरें॥

भगवान् निर्गुण तथा निर्लेप हैं

(४४६)

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥
हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥
(श्री भा० ७ स्क० १ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

राजसूय के समय युधिष्ठिर नारद मुनि सन ।
पूछयो विस्मय सहित प्रश्न नृप जिही विलक्षन ॥
सदा करें शिशुपाल कृष्णकी निंदा पापी ।
मुक्त भयो कस दुष्ट अधम भक्तनि संतापी ॥
धर्मराज की बात सुनि, नृप सन मुनि बोले वचन ।
निरभिमान हरिमहँ नहीं, राग द्वेष निन्दा स्तवन ॥

संसार में बढ़ना तो सभी चाहते हैं, किन्तु इस शरीर को

महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! *निन्दा, स्तुति,* सत्कार और तिरस्कार के आश्रयभूत इस देह की रचना प्रकृति और पुरुष के अविवेक से ही हुई है । हे राजन् ! अहंता ममता रूप विषमता और दण्ड तथा निन्दा आदि से दुःख की अनुभूति उस शरीर के अभिमान से ही जीवों में होती है ।"

त्यागकर बढना नहीं चाहते। मैं ब्राह्मण बन जाऊँ, किन्तु इसी शरीर से मेरा शरीर दिव्य हो जाय किन्तु इसे त्यागना न पडे। मै धनी, मानी, यशस्वी, प्रतिष्ठित, पूजित, सत्कृत, पवित्र ज्ञानी, ध्याता जो भी होऊँ इस शरीर से होऊँ। इस भाव मे दो बातें हैं, एक तो बडा बनने की अभिलाषा, दूसरे शरीर का ममत्व। बडा बनने की इच्छा तो आत्मा का गुण है। क्योकि आत्मा से बढकर तो कोई है नहीं और शरीर मे ममत्व होना अज्ञान का चिह्न है। यदि शरीर मे से ममत्व हट जाय तो जीव शिव स्वरूप ही है। फिर वह बद्ध नहीं, छूटा नहीं जीवन्मुक्त है बडे से बडा है। जब तक हम विषयो के दास हैं, अनित्य नाशवान् शरीर को अपना माने बैठे हैं, तब तक दुखी हैं, अशान्त हैं। जहाँ विषयदास न होकर हरिदास हो गये जहाँ नित्य शाश्वत् सौन्दर्य माधुर्य के निधान श्रीमन्नारायण को अपना मानने लगे। तब दुख का नाम भी नहीं रहता। आनन्द के सागर मे डुबकियाँ लगाते रहते हैं। प्रकृति के गुणों को अविवेक से हम अपने मे आरोपित किये हुए हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर चुके तब वे वहीं यज्ञ मडल मे मुनि मडल से घिरे बैठे थे। देश-देशान्तर के राजा भी उपस्थित थे। स्वय साक्षात् भगवान् द्वारिकाधीश भी विराजमान थे। उसी समय सब मुनियों के समक्ष धर्मराज युधिष्ठिर ने देवर्षि नारदजीसे एक प्रश्न किया। पहिले तो उन्होंने नारदजी की विधिवत् पूजा की फिर प्रणाम करके उनसे बोले—"भगवन् मेरी एक शका है, आप आज्ञा दे तो मैं पूछूँ ?"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए नारदजी ने कहा—"राजन! आप अपनी शका को अवश्य पूछो मैं इन समस्त मुनियों के सम्मुख आपकी शका का यथाशक्ति यथा मति समाधान करूँगा।"

नारदजी को प्रसन्न और उत्तर देने के लिये उद्यत देखकर धर्मराज ने हाथ जोड़ कर कहा—"ब्रह्मन्! मेरी शंका सामायिक है। अभी आपने देखा था शिशुपाल भगवान् को न कहने योग्य कुवाक्य कह रहा था। बुरी-बुरी गालियाँ दे रहा था। अन्त मे वह भगवान् के चक्र से मारा गया। हमें तो आशा थी, कि यह मर कर रौरवादि घोर नरकों मे जायगा, किन्तु वह तो प्रत्यक्ष सब के देखते ही देखते भगवान में मिल गया। उसकी ज्योति श्री हरि के श्री अंग मे समा गई, उसकी सायुज्य मुक्ति हो गई। यह कैसी महान् आश्चर्य की बात है।

इस पर हँसकर नारदजी ने पूछा—"राजन्! इसमे आश्चर्य करने की कौन सी बात है?"

राजा युधिष्ठिर ने विस्मय के साथ कहा—"अजी, महाराज! आप को भले ही आश्चर्य न लगता हो। हमे तो बडा आश्चर्य हो रहा है। और आश्चर्य की बात भी है। देखिये, साधारण आदमी को भी गाली दे, तो देने वाले को बडा पाप लगता है। किसी की निन्दा करना किसी को गाली देना यह महापाप है। संसार मे निंदक के बराबर कोई पापी नहीं। घोर से घोर यातना वाले नरकों मे निंदक ही जाते हैं। महाराज इस विषय मे मैंने एक कहानी सुनी है आप आज्ञा दें तो मैं सुनाऊँ?"

नारद जी ने कहा— हाँ राजन ! सुनाइये। आप तो धर्म के अवतार ही हैं। आप जो भी बात कहेंगे वह धर्म का सार ही होगा।"

यह सुनकर विनय के सहित धर्मराज बोले—"भगवन ! मैंने सत्सग के प्रसग मे महर्षियों के मुख से एक कथा सुनी है कि किसी राजा को अपनी प्रशसा सुनने का बडा व्यसन था। वह निरन्तर ऐसे कार्य करता कि सब लोग उसकी मुख पर आकर प्रशसा करते। प्रशसकों का बहुत धन देता था। प्रशसा के लिये धर्म भी करता था। जब वह स्वर्ग में गया तो उसे रहने को बडे-बडे सुवर्ण के महल मिले, किन्तु भीतर जाकर वह देखता है, तो उन महलों में घोडे की लीद भर रही है। कहीं रहने को स्थान नहीं। थोड़ा सा स्थान लीद से रहित है।

राजा ने देवराज इन्द्र से पूछा— हे देवेन्द्र ! मेरे घर में यह घोडे की लीद क्यो भर रही है ?"

इस पर स्वर्गाधिप इन्द्र बोले—'राजन् ! आप निरन्तर अपनी मिथ्या प्रशसा में लगे रहे। मिथ्या प्रशसा लीद के ही समान निस्सार है। आप धन देकर अपनी प्रशसा तो सुनते थे, किन्तु निंदा नहीं सुनते थे जो लोग छिपकर आपकी निंदा करते थे, वे थोडी सी लीद को खा गये। उसीसे इतना स्थान लीद से रिक्त है। आपके राज्य मे एक बढई है। यदि वह आपकी निंदा कर दे, तो अभी यह भवन खाली हो जाय क्योंकि वह कभी किसी की निंदा नहीं करता। राजा इन्द्र की आज्ञा लेकर वेष बदल कर उस बढई के पास गये और

जाकर बोले—'हे महानुभाव ! आप बड़े धर्मात्मा हैं। देखिये इस देश का राजा कैसा प्रतिष्ठालोलुप था सदा अपनी प्रशंसा ही सुनता रहता था। वह तो बड़ा नीच था।"

यह सुनकर बढ़ई हँसा और हाथ जोड़ कर बोला—राजन् ! आप मेरे ऊपर अकारण अन्याय क्यों करते हैं? उस सुवर्ण के भवन में भरी लीद को मुझे क्यों खिलाना चाहते हैं? महाराज ! मैंने किसी की आज तक निंदा नहीं की है न मैं करूँगा। परनिंदा से बढ़कर कोई दूसरा पाप संसार में नहीं है। जब सभी अपनी प्रकृति के अनुसार अवश हैं, निंदा करने से क्या लाभ ?"

महाराज युधिष्ठिर नारदजी से कहते हैं—"ब्रह्मन् ! बढ़ई की ऐसी बात सुनकर राजा उदास होकर लौट गया। सो, हे महर्षि ! निंदा से बढ़कर मुझे तो दूसरा पाप संसार में दृष्टिगोचर होता नहीं। देखिये, राजर्षि अंग के पुत्र वेन ने ब्राह्मणों की निंदा की थी। इस कारण उसे भयंकर नरकों की यातना सहनी पड़ी। जब ब्राह्मणों की निंदा से वेन नरक गये तो यह शिशुपाल तो साक्षात् ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव को गाली दे रहा था। यहाँ राजसूय यज्ञ में ही गाली दी हो, सो भी बात नहीं। हमतो इसके बाप को भी जानते हैं। जब यह पैदा हुआ था, तब भी हम लोक व्यवहार के नाते इसे देखने गये थे। वैसे भी हम इनके यहाँ जाते आते रहते थे। हमारे सम्बन्धी ही ठहरे। यह तो हमारी मौसी का लड़का ही था। जब से इसने तुतला कर बोलना आरम्भ किया, तभी से यह भगवान् से द्वेष करने लगा। उन्हें कुवाच्य कहता था, उनकी निन्दा करता था। ऐसे पापी को तो नरक से भी दुखदायी यातनायें हों, वे देनी

चाहिये थी। सो यह दमघोष का महापापी पुत्र शिशुपाल था वैसा ही इसका मित्र दन्तवक्र था। वह भी जन्म से ही भगवान से द्वेष करता था। ये दोनों ही भगवान् के हाथ से मरे और दोनो का ही मुक्ति हो गई।

हँसकर नारद जी बोले—'तो आपकी क्या सम्मति है? इन्हे क्या दण्ड मिलना चाहिये ?

रोप के स्वर म धर्मराज ने कहा—"महाराज! इस पाप का तो जो भी दण्ड हो वही थोडा है। मेरी सम्मति मे तो जिस जिह्वा ने अविनाशी परब्रह्म, इन भगवान वासुदेव को कटुवाक्य कहे उस जीभ में गलित कुष्ट हो जाना चाहिये। वह जिह्वा गल कर गिर जानी चाहिये। उसके अग प्रत्यग म अरबों खरबों साँप बिच्छू काटने की वेदना निरन्तर बनी रहनी चाहिये। यह सब तो हुआ नहीं। उलटे उन्हें वह मुक्ति मिली जिसके लिये योगी अनेका जन्मों तक तप स्वाध्याय करके शरीर को सुखाते रहते हैं। महाराज! इस घटना से तो हम बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है। हमारी बुद्धि वायु के झकोरों से चचल हुई दीप शिखा के समान उद्भ्रान्त सी हो रही है। आप समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं भगवान् के कृपापात्र हैं। कृपा करके हमारी इस शका का समाधान कीजिये। मेरे ही समान ये सब राजे महाराजे ऋषि मुनि भी इस प्रश्न का उत्तर सुनने को समुत्सुक हो रहे हैं।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसे भगवत् प्रेम से सने हुए वचनों को सुनकर नारद जी परम सन्तुष्ट हुए और हँसते हुए धर्मराज के प्रश्न का उत्तर

देने को उद्यत हुए।

नारदजी ने कहा—"राजन्! हम आप से पूछते हैं, कि ये निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार आदि शरीर के होते हैं या आत्मा के?"

धर्मराजने कहा—"भगवन्! आत्माका क्या सत्कार तिरस्कार? उसकी कोई क्या निंदा स्तुति कर सकता है। आत्मा तो नित्य, एकरस, सत्कार, तिरस्कार, से पर है। निंदा स्तुति तो शरीर सम्बन्ध से ही है।"

इस पर नारद जी ने कहा—"हाँ, राजन्! आप सत्य कहते हैं। अब यह बताइये कि इस शरीर की उत्पत्ति क्या आत्मा से होती है?"

धर्मराज ने कहा—"नहीं, भगवन्! आत्मा में कहाँ उत्पत्ति विनाश? शरीर की रचना तो प्रकृति और पुरुष के आश्रय से हुई है। इनसे जो उत्तम पुरुष हैं वे ही पुरुषोत्तम कहलाते हैं।"

नारदजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महाराज आप तो सब जानते ही हैं। देखिये, यह मुझसे छोटा है यह बड़ा है। इस प्रकार की विषमता अहंता ममता के कारण होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं पंडित हूँ इस प्रकार की अहंकृति का नाम ही अहंता है। यह मेरा धन है ये मेरे जन हैं, यह मेरा गृह है, यह मेरा कुटुम्ब परिवार है इस प्रकार के मेरेपन का नाम ममता है। अहंता ममता जीवों में शरीर अभिमान से हुआ करती है। जो जितना ही शरीराभिमानी होगा उसे उतनी ही अहंता ममता होगी। उतना ही वह सत्कार से सुखी और तिरस्कार से दुखी होगा। वह स्तुति सुनकर हर्षित होगा और

निन्दा सुनकर दुखी होगा। देहाभिमानी पुरुषों की निन्दा कर तो नरकादि लोकों में जाकर नाना यातनायें भोगनी पड़ेगी। किन्तु श्री हरि में देह के सम्बन्ध से अहंता ममता का लेश भी नहीं है। उन्हें यदि मार दो—यद्यपि उन्हें कोई मार नहीं सकता तो भी पाप न लगेगा। द्वेष भाव से निन्दा करो तो निन्दा से नरकादि लोकों की प्राप्ति भी न होगी। देहाभिमान जीवों में अहंता ममता के भाव होते हैं। सर्वात्मा श्री हरि में छोटेपन बड़ेपन का भाव नहीं होता। क्योंकि वे तो एक अद्वितीय हैं। वे किससे बड़े किससे छोटे। भगवान् किसी को मारते भी हैं। तो वैर के कारण द्वेष से नहीं कल्याण के निमित्त मारते हैं इससे मरने वाले का कल्याण ही होता है। क्योंकि भगवान् कल्याण के निधान हैं। उनसे जीवों का कैसे भी सम्बन्ध हो जाय तो उनका कल्याण ही होगा। छुरी को फल पर डालो तो फल ही कटेगा यदि फल को छुरी पर डालो तो भी फल ही कटेगा। इसी प्रकार भगवान् से जो स्वयं सम्बन्ध करले उसका भी कल्याण होगा और भगवान को द्वेष वश न चाहे भगवान् ही हठ पूर्वक सम्बन्ध जोड़लें उसे मार दें, तो भी उसी का कल्याण होगा। देहाभिमानी दूसरे देहाभिमानी को मारे तो मारने वाले को भी पाप लगता है और मरने वाले को भी कर्म फल भोगने पड़ते हैं। किन्तु भगवान् के हाथ से जो मारे जाते हैं उनसे जो वैर करके भी प्राण त्याग करते हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं।

यह सुनकर बड़े आश्चर्य के साथ महाराज युधिष्ठर ने पूछा—"भगवन्! यह आप कैसी बात कह रहे हैं, क्या वैर से भी भगवान् में तन्मयता हो सकती है?

नारद जी ने कहा—"हो क्या सकती है, होती ही है इस विषयको मैं आगे आपको विस्तार से सुनाऊँगा। आप ध्यान पूर्वक इस गहन विषय को श्रवण करे।

छप्पय

जाकूँ है अभिमान देह को अतिशय भारी।
मैं अति सुन्दर सुघर सुन्दरी मेरी नारी॥
पाप पुण्य तें करे कर्म वश सुख दुख पावें।
जिनिमहँ नहिं अभिमान द्वन्द तिनिढिग नहिं जावें॥
क्रीड़ा वश हरि अवतरहिं, तिनि महिमा को कहि सके।
धर्म हेतु सुर रिपु दलन, हिंसा तिनि कस लगि सके॥

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ।
मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

कैसेहू सम्बन्ध कृष्ण तें जो जुरि जावे।
काम, द्वेष, भय भक्ति प्रेम वश चितखैंचि जावे ॥
तो होवे कल्याण भयो जगमहँ बहुतनि को ।
काम भाव व्रजवधू थापि पद पायो हरि को ॥
भयतें मामा कंस ने, यादवगन सम्बन्ध करि।
शिशुपालादिक द्वेषतें, मुक्त भये हरि हृदय धरि ॥

राजा अपनी राज सभा में सुन्दर से सुन्दर बहु मूल्य सुगंधित इत्र लगाकर आता है। उस सभा में उसके मित्र शत्रु सम्बन्धी स्नेही तथा वन्दी आदि जितने बैठे होंगे, सबको

---

* देवर्षि नारदजी, धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—राजन् ! भगवान् से कैसा भी सम्बन्ध हो जाय कल्याणप्रद ही है। अतः जिस किसी प्रकार से भी मन को श्रीकृष्ण में लगाना चाहिये। ये जो

सुगन्धि से समान सुख मिलेगा सब की घ्राणेन्द्रिय उससे तृप्त होगी। राजा में उनका कैसा भी भाव क्यों न हो, किन्तु उसकी सन्निधि में आने पर वे सुगन्धि से वञ्चित न रहेंगे। जो उसकी सन्निधि में नहीं आये उनकी बात दूसरी है। कल्पतरु के नीचे जो भी जायेगा, उसकी ही मनोकामना पूर्ण होगी। जो उससे दूर रहेगा वह उसके उस गुण से वंचित रहेगा। भगवान् आनन्द के स्वरूप हैं मुक्ति के धाम हैं सौंदय माधुर्य की राशि हैं। उनमें द्वेष नहीं, अपने पराये का भाव नहीं। उनसे कोई कैसे भी सम्बन्ध रखे मुक्त तो हो ही जायगा एक आदमी ने अन्नसत्र खोल रखा है जो आता है उसी को खिलाता है। बहुत आकर दाता को गालियाँ देते हैं, कुवाक्य कहते हैं। लड़ने को तत्पर हो जाते हैं। उदारमना दाता उन्हें भी खिलाता है और जो आकर उसकी प्रशंसा करते हैं उनके दान धर्म की बड़ाई करते हैं उन्हें भी खिलाता है। अन्तर इतना ही है द्वेषियों निन्दकों को केवल भोजन मिलता है और साधु स्वरुप के गुणग्राही सत्पुरुष को भोजन के साथ वह स्नेहरस भी देता है। प्रेम में पगे उस भोजन में और केवल भोजन में अंतर तो है ही फिर भी पेट दोनों का ही भर जाता है। धर्मात्मा दाता के द्वार से कोई निराश नहीं लौटता।'

तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्र हैं, पहिले ये भगवान् विष्णु के प्रधान पार्षद थे। सनकादि ब्राह्मणों के शाप से ये अपने पद से च्युत हो गये।"

श्री नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! देखिये लोग रागद्वेष तभी तक करते हैं, जब तक कि इन शब्द,

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सांसारिक असुखकर

विषयों में प्रियत्व की बुद्धि हो। एक चाहता है, इस पदार्थ को मैं लूँ दूसरा चाहता हूँ मैं लूँ, तभी राग, द्वेष, ईर्ष्या लड़ाई, कलह युद्ध आदि होते हैं। जिस समय सभी को मनुष्य आत्मारूप में देखने लगता है ऐसे समदर्शी पुरुष को न राग, न द्वेष, न मोह, न शोक। भगवान् का तो इन संसारी पदार्थों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। जो पुरुष संसारी पदार्थों के लिये संसारी पुरुषों से आशा रखकर उनसे सम्बन्ध करते हैं उन्हें तो वार-वार जन्मना पड़ता है और वार-वार मरना पड़ता है, किन्तु जो चाहे जिस कारण से, चाहे जिस भावसे, भगवान् से सम्बन्ध कर लेता है उनमें अपने चित्त को फँसा लेता है तो उसका आवागमन छूट जाता है।

इस पर धर्मराज ने पूछा—"महाराज, किन किन कारणों से चित्त किसी में तन्मयता प्राप्त करता है ?"

यह सुनकर नारदजी बोले—"राजन्! किसी भी वस्तु में चित्त के तन्मय होने के पाँच ही कारण हैं। एक तो भक्ति भाव से चित्त भजनीय इष्ट में तन्मय हो जाता है। भक्त जिस समय प्रेमाश्रु बहाता हुआ गद्-गद् कंठ से अपने इष्ट की स्तुति करता है, उस समय उसे संसार भूल जाता है, वह वढ़ी हुई भक्ति के कारण भगवान् में ऐसा तदाकार हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती। ऐसी तन्मयता जिन भक्तों को प्राप्त है उसके पादपद्मों में हमारा प्रणाम है। भय से भी तन्मयता होती है। जिस को फाँसी की आज्ञा हो जाती है उसे भय के कारण कुछ भी दिखाई नहीं देता, चित्त सदा सोच में ही पड़ा रहता है। जिन्होंने किसी फाँसी वाले आदमी को देखा होगा वे

जानते होंगे कि उसकी दशा में और ब्रह्मज्ञानी की दशा में ऊपर से देखने पर कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता। दोनों संसार से उदासीन से हो जाते हैं। मैत्री में भी तन्मयता होती हैं वे बड़भागी हैं जिन्हें कोई हार्दिक प्रेम करने वाला मित्र मिल गया हो। मैत्री में तन्मयता कैसे होती है, यह बिना मित्र प्राप्त किये जानी नहीं जा सकती। यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की बात है। काम से भी तन्मयता होती है। कोई स्त्री किसी पुरुष पर आसक्त हो या कोई पुरुष किसी स्त्री पर आसक्त हो, तो फिर इन को संसार में अपने चाहने वाले के अतिरिक्त कोई दिखाई नहीं देता। सोते जागते उठते बैठते उसी का चिन्ता रहती है। इस विषय में मैंने एक कहानी सुनी है आप कहें तो सुनाऊँ।"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! दृष्टान्त से विषय स्पष्ट हो जाता है, अत. आप उस कहानी को अवश्य सुनाइये।

धर्मराज की जिज्ञासा देखकर नारद जी कहने लगे—"राजन्! एक कोई राजा की दासी थी, उसकी किसी पुरुष में अत्यन्त आसक्ति थी। पुरुष राजा का कर्मचारी था। दोनों एक दूसरे को हृदय से चाहते थे। एक दिन वह स्त्री अपने उस जार पति से मिलने संकेतानुसार अरण्य में जा रही थी। मार्ग में एक क्रोधी मुनि भगवान का ध्यान कर रहे थे। वह कामिनी तो कामावेग के कारण अन्धी बनी हुई थी, ध्यानस्थ मुनि के ऊपर पैर रखकर ज्यों ही जाने लगी तो मुनि को क्रोध आ गया, दो डंडे उसके जमा दिये। वह चली गई। अपने जार पति से मिल मिला कर फिर वह उधर से लौटी। मुनि ने उसे बुलाया और बुलाकर पूछा—'तू मेरे शरीर पर पैर रखकर क्यों गई थी?'

उसने हाथ जोडकर बडी नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! यह कितने दिनों की बात है, मुझे तो स्मरण नहीं आता कि मैंने आप के साथ कभी ऐसा अशिष्ट व्यवहार किया हो ?"

मुनि ने क्रोध में भरकर कहा—"कैसी बातें कर रही है, कैसा अपने को निर्दोष बता रही है। अभी-अभी की तो बात है तू अधी हुई जा रही थी। मैं ध्यानमग्न था जब तेरे पैरो से मेरे शरीर का स्पर्श हुआ, तो मुझे बडा क्रोध आया। मैंने तुझको दो डडे भी जमा दिये थे। तुझे इतना भी ध्यान नहीं।"

तब उस कामिनी ने कहा—"प्रभो! सत्य कहती हूँ, मुझे कुछ भी पता नहीं। भूल से लग गया होगा। उसके लिये में क्षमा चाहती हूँ, किन्तु मेरी अशिष्टता क्षमा की जाय, तो मैं एक बात कहूँ ?"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है कहो, तुम निर्भय होकर कहो। में बुरा न मानूँगा।"

उस कामिनी ने कहा—"नहीं, महाराज! बुरा मानने वाली तो कोई बात नहीं। मैं यह कहती हूँ कि आपके उस मिथ्याध्यान से तो मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ था। आप तो एकान्त में बैठकर आसन लगा कर आँख मीच कर ध्यान में लगे हुए थे, फिर भी मेरे पैरों के स्पर्श से आपका ध्यान भग हो गया। आपने मुझे पहिचान लिया, यही नहीं दो डडे भी जमा दिये। किन्तु मुझे देखिये मैंने न आँखें मीचीं न आसन लगाया, न एक स्थान पर बैठी। दौडी जा रही थी आँखे खोलकर भूल से आप पर पैर पड गया। आप कहते हैं मैंने दो डडे भी मारे,

मुझे न आप दिखाई दिए न डंडों का पता चला। तब तो आप से अधिक तो मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ रहा।

यह सुनकर मुनि लज्जित हुए और बोले—"देवि ! सत्य कहती हो, मेरा चित्त भगवान् मे तन्मय नहीं होता तुम्हारा चित्त अपने जार पति मे तन्मय हो रहा था।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार अत्यन्त काम की आसक्ति मे भी चित्त तन्मय हो जाता है। वह ससारी कामवासना भगवान् मे हो जाय, भगवान् को अपना पति, उपपति, जार पति, प्रेमी कुछ भी समझ कर स्त्री भाव से जीव चाहने लगे, तो उसके कल्याण में सन्देह नहीं। चार कारण तो ये हुये। पाँचवाँ सुदृढ़ वैरागानुबन्ध से भी चित्त तन्मय हो जाता है।

धर्मराज ने आश्चर्य के साथ कहा—"महाराज ! वैर से कैसे चित्त तन्मय हो जाता है ?"

यह सुन कर नारदजी बड़े जोरो से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"राजन् ! वन्ध्या को प्रसव पीडा का अनुभव कैसे कराया जा सकता है। अबोध बालिका को पतिगृह के सुख का अनुभव कैसे कराया जा सकता है ? महाराज ! आप ठहरे अजातशत्रु। आपने किसी से तीव्रता के साथ हृदय से वैर किया ही नहीं। इसलिये आप आश्चर्य कर रहे हैं, किन्तु मैं तो दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि जैसे चित्त वैरी के प्रति तन्मयता को प्राप्त होता है वैसा न काम से होता है न स्नेह से, न भक्ति से और न भय से। महाराज ! अपना प्रबल शत्रु सदा हृदय पटल पर नाचता रहता है। एक भृंगी

मकान कीड़ा होता है। वह गीली मिट्टी अपने मुँह में ला ला कर भीत पर एक घर बना लेता है। उस घर में कहीं से भी किसी कीड़े के बच्चे को पकड़ कर बंद कर देता है और उसके आगे गूँजता रहता है। निरन्तर कैद में डालने वाले शत्रु की गूँज सुनकर उस कीड़े के बच्चे को बड़ा उद्वेग होता है। वह निरन्तर उसी शत्रु का स्मरण करता रहता है। स्मरण करते-करते वह कीट भी भृङ्गी बन जाता है, तन्मय हो जाता है। सो, महाराज! वैर से तो बड़ा ही चित्त तन्मय होता है। यदि संसारी किसी व्यक्ति से वैर करोगे, तो मर कर उसी के सम्बन्धी बनोगे। पूर्वकृत वैर का बदला लोगे। यदि वही वैर जान में अनजान में भगवान् से हो जाय, तो बेड़ा पार है। आवागमन सदा के लिये छूट जायगा। इसलिये महाराज! चित्त के तन्मय होने के काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्ति ये ही पाँच उपाय हैं। इन भावों से भगवान् में चित्त लगा कर बहुत से लोग इस संसार सागर को पार कर गये।"

आश्चर्य के साथ धर्मराज ने कहा—"भगवन! यह तो आपने एक विलक्षण ही सिद्धान्त बता दिया। भगवान् में काम भाव कैसे रखा जाता है? काम भाव से किसे सिद्धि प्राप्त हुई है।"

इस पर नारदजी ने कहा—"देखिये राजन्! भगवान श्याम सुन्दर जब ब्रज में प्रकट लीला कर रहे थे, तब पहिले कुछ गोपियों का चित्त उनकी ओर काम भाव से ही आकृष्ट हुआ। पहिले पहिल उन्होंने उन्हें एक अत्यन्त रूपवान अपना परम प्रेष्ठ ही समझा। जब सम्बन्ध हो गया, तो वे जान गयीं कि ये केवल गोपिका नन्द हो नहीं हैं अखिल प्राणियों की

अन्तरात्मा में विचरण करने वाले सर्वेश्वर भी हैं। उनका काम भाव किसी संसारी सौन्दर्ययुक्त युवक के प्रति होता तो वह पाप होता, वन्धन का कारण माना जाता। किन्तु भाग्य-वश वह काम कामारि केशव के प्रति हो गया। अन्धे के हाथों बटेर लग गई। राजन्! यह तो व्यवहारिक लीला की बात है। वास्तविक बात तो यह है कि गोप-गोपी गौ आदि ये सब तो भगवान् के नित्य सहचर तथा पार्षद् हैं। इसी लिये रस-शास्त्र में व्रजाङ्गनाओं के काम को ही प्रेम कहा गया है।

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! भय से कैसे चित्त तन्मय होता है?"

नारद जी ने कहा—"भय से तो मैं कीट भृंगी का दृष्टान्त देकर समझा ही चुका। कंस जन्म से पूर्व ही भगवान् से वैर रखता था मुझसे जब उसने सुना कि मेरा शत्रु गोकुल में नन्द के घर बढ़ रहा है तब तो उसे सोते, जागते, उठते बैठते, खाते-पीते, चलते फिरते सर्वत्र कृष्ण का ही ध्यान रहने लगा, कृष्ण मुझे मारेंगे, कृष्ण आ तो नहीं गये, कृष्ण को पकड़ कर लाइये, कृष्ण से मेरी कैसे रक्षा हो। उसका कृष्णमय चित्त हो गया। वैरी बनकर वह कृष्ण की आराधना करने लगा। भगवान् की प्रतिज्ञा है जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजन करते हुए उसी रीति से फल देता हूँ। इसीलिये भगवान् ताल ठोकर उसके सम्मुख आगये और उसे अपने श्री हस्तों से मारकर मुक्त कर दिया।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! द्वेष से भगवान् का चिंतन

कैसे किया जाता है।

हँस कर नारद जी बोले—"महाराज! प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता। यह तो शिशुपाल के वध के समय सभी ने प्रत्यक्ष देख लिया कि शिशुपाल के शरीर से ज्योति निकल कर इन सर्वान्तर्यामी प्रभु के शरीर में समा गई। यह शिशुपाल जन्म से ही भगवान् से द्वेष करता था। इसी प्रकार दन्तवक्र भी। आपके तो ये दोनों मौसेरे भाई ही थे। श्री कृष्ण की बुआओं के ये लड़के थे, किन्तु पूर्व जन्म के संस्कार के कारण भगवान् से जन्म लेते ही द्वेष करने लगे। संसारी राजाओं से करते तो मर कर फिर राजा होते, उन्होंने द्वेष किया इन भव भयहारी वनवारी के साथ। अतः ये दोनों मरकर मुक्त हो गये। और भी बहुत से राजा भगवान् से द्वेष करके ही मुक्ति के अधिकारी हुए।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! भगवान् से सम्बन्ध कैसे किया जाता है?"

नारद जी ने कहा—"जैसे संसारी लोगों से किया जाता है। ये मेरे पिता हैं, चाचा हैं, ताऊ हैं, बाबा, परबाबा हैं, भाई हैं, भतीजे हैं, पुत्र हैं, मामा हैं, भानजे हैं, फूफा हैं, जीजा हैं। ये सब सम्बन्ध इन मायिक प्राणियों से करोगे, बन्धन बढ़ेगा, भगवान् से करोगे मुक्त हो जाओगे। ये समस्त यादव मुक्ति के अधिकारी हैं, क्योंकि अनजान में भी ये श्रीकृष्ण को अपना सगा सम्बन्धी समझते हैं।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! मित्रता से भगवान् में कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है?"

यह सुनकर नारद जी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"राजन्! रसगुल्ला तो स्वयं खाते हो और स्वाद मुझसे पूछते हो ये जो सम्मुख पीताम्बर धारी वनवारी बैठे हैं इन्हें तुम साक्षात् भगवान् समझते तो एक सगमरमर का सुन्दर मन्दिर बनाकर इनकी सदा पूजा ही करते रहते। इनसे रथ न हँकवाते, दूत न बनाते। सेवकाइ न कराते, इनसे घुलघुल कर बातें न करते, पैर न छुआते। इन्हे अपना मित्र सुहृद्, सखा, हितैषी सर्वस्व समझते हैं। उसी का तो यह फल है कि आपका घर परम पावन तीर्थ बन गया है। बडे बड़े ऋषि महर्षि आपके आंगन की धूल लेने के लिये यहाँ सदा आते रहते हैं। घन चक्कर की भाँति जो मैं यहाँ चक्कर काटता रहता हूँ, केवल तुम्हारी सुस्वादु सामग्रियो तथा हलुआ पूडी उडाने के ही निमित्त नहीं आता। इन वासुदेव की चरण धूलि से अपने अङ्ग को पावन करने आता हूँ। सो, राजन्! आप लोग धन्य हैं जो सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव को अपना सुहृद्, सखा, मित्र मानते हैं ?"

इस पर नम्रता के साथ हाथ जोड कर धर्मराज ने कहा—"भगवन्! यह सब आप गुरुजनो के चरणों की कृपा का फल है। हम लोग इस योग्य थोडे ही हैं कि भगवान् वासुदेव से मित्रता कर सकें। भगवान् ने ही कृपा करके हमे अपना रक्खा है। हाँ, भक्ति से भगवान् की कैसे आराधना की जाती है ?"

इस पर नारद जी ने सकोच के साथ कहा—"अब भक्ति की क्या बताऊँ। ये सब ऋषि मुनि बैठे हैं। भगवान् को भक्ति भाव से ही पूजते हैं। मैं जो वीणा लेकर निरन्तर राम कृष्ण राम कृष्ण हरि की रट लगाता रहता हूँ इसलिये मुझे

भी लोग भक्त कहने लगे हैं। वैसे मुझ में भक्ति फक्ति तो कुछ है नहीं। ये ही श्यामसुन्दर सहारा दे—"ये ही अभक्त समझकर भी भक्त वेष देख कर ही अपना लें—तो दूसरी बात है।

आपने जो महाराज वेन का दृष्टान्त दिया, सो राजन्! वेन का भगवान् से न द्वेष था न प्रेम। वह तो अपने को सर्व श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता था। उसकी सर्वश्रेष्ठता में बाधक थे ब्राह्मण। वह सोचता था—"समाज पर इन ब्राह्मणों का ही अधिकार है, इन्हें नष्ट कर दें, तो सब लोग हमें श्रेष्ठ कहने लगें। भगवान् के प्रति तो उसकी उपेक्षा बुद्धि थी। क्योंकि वे सब किसी को इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते। उसका द्वेष ब्राह्मणों से था। इसीलिये ब्रह्मशाप से मरकर नरक में गया। जब उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध हो गया पृथु-भगवान् ने उसे अपना पिता मान लिया, तो उसका उद्धार हो गया, वह मरकर यातनाओं से मुक्त हो गया। इसीलिये महाराज! जैसे बने तैसे भगवान् में प्रेम करना चाहिये। इस चचल चित्त को उनमें जोड़ देना चाहिये। ससार में सब वस्तुएँ सब को प्राप्त नहीं। जिनके पुत्र न हो, वह भगवान् को अपना पुत्र मान कर लाड लड़ावे, उन्हें पुत्र की भाँति प्यार करे। जिनका कोई स्वामी न हो भगवान् को स्वामी मानकर सेवा करे। जिनके गुरु न हो भगवान् को गुरुदेव मानकर पूजे। जिनका मनोनुकूल पति न हो वे भगवान् को ही पति मान कर पति का सा ही सब सम्बन्ध रखें उन्हें ही अपने हाव भाव कटाक्ष और शृङ्गार से रिझावें। जिनके मित्र न हो, वह भगवान् से ही मित्रता स्थापित करलें, जिनके शत्रु न हो भगवान् को ही शत्रु बनालें। साराश किसी भी प्रकार मन को कृष्ण में लगा देना चाहिये। उसका पल्ला इन परात्पर को पकड़ा देना चाहिये।

इनके साथ गठ बन्धन कर लेना चाहिये। राजन! ये दन्तवक्र और शिशुपाल कोई और नहीं हैं। भगवान के नित्य पार्षद जय विजय ने ही सनकादिकों के शाप से पृथिवी पर जन्म लिया था। अन्त में भगवान् के हाथों से मरकर ये मुक्त हो गये। पुनः अपने पदपर प्रतिष्ठित हो गये।

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—"महाराज! जय विजय को शाप क्यों हुआ? सनकादि इतने त्यागी तपस्वी माया के गुणों से रहित मुनियों को क्रोध क्यों आया। इस प्रसङ्ग को आप मुझे सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज के पूछने पर देवर्षि नारद जी ने जय विजय के शाप की समस्त कथा सुनाई। महाराज! हिरण्याक्ष के वध प्रसंग में उस कथा को मैं सुना ही आया हूँ। फिर भी अब हिरण्यकशिपु का वृतान्त कहना है, अतः फिर भी स्मरणार्थ अत्यन्त संक्षेप में उस कथा का संकेत करूँगा। क्योंकि प्रसंगानुसार कहनी पड़ती है, नहीं तो विषय अधूरा रह जायगा। आप इसे पुनरुक्ति दोष न समझें।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! साहित्य में तो निरुक्ति दोष होता है, किन्तु भागवती कथाओं में पुनरुक्तिदोष नामक कोई वस्तु नहीं। उसमें तो एक ही बात को हजारों बार कहा जाता है। एक ही तो बात है अवतार चरित्त, उसी को कहना है आप निःसंकोच कहें।" शौनक जी की यह बात सुन-

कर सूत जी जय विजय के प्रसंग को पुनः अत्यन्त संक्षेप में कहने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

धर्मराज तुम धन्य धन्य तुमरे पितु माता।
बने सुहृद् घनश्याम तुम्हारे जे भय त्राता॥
हरि शोभा के धाम मगलनि के मगल हैं।
उनमहँ जिनको चित्त फँस्यो तिनके मगल हैं॥
दन्तवक्र शिशुपाल हरि, करतें मरि हरिपुर गये।
प्रभु पार्षद् जय विजय जे, विप्र शापवश खल भये॥

जय विजय के शाप का कारण

(४४८)

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

कहें युधिष्ठर—नाथ ! शाप की बात बताओ ।
प्रभु पार्षद् जय विजय असुर कस भये बताओ ॥
बोले नारद—"प्रभो ! गये हरिपुर सनकादिक ।
गदा बेत ले खड़े द्वार के दोनों पालक ॥
नग धड़गे बाल लखि, रोके हरि दरसननि तें ।
शाप दयो सुररिपु बनों, ये डरि बोले मुनिनि तें ॥

पिता को जब पुत्र से खेल करने की इच्छा होती है, तब वह उससे लड़ता है । छोटा बच्चा पिता से क्या लड़ेगा, किन्तु खेल ही जो ठहरा । पिता लड़ने का अभिनय करता है, बच्चा

धर्मराज युधिष्ठिर नारदजी से पूछते हैं—"भगवन् ! भगवान् भक्तों का भी तिरस्कार करने वाला यह शाप किसका था और जय विजय को यह कैसे लगा ? जो भगवान् के एकान्त भक्त हैं उनका पुनः संसार में जन्म लेना तो कुछ अविश्वसनीय सा जान पड़ता है ।"

भी शक्तिभर वल लगाता है फिर पिता अपने आप ही गिर पडता है और वनावटी आश्चर्य से कहता है—"अरे भाई, तू तो वड़ा वली है, मुझे पछाड़ दिया वच्चा सब समझता है, पिता स्वयं ही गिरा है। फिर भी प्रसन्न ही होता है क्योंकि पिता की प्रसन्नता में उसकी प्रसन्नता निहित है। भगवान् के अवतार लेने के अनेक प्रयोजन वताये गये हैं, किन्तु हम तो उनके अवतार का एक मात्र प्रयोजन यही समझते हैं कि अपने भक्तों को अपनी क्रीड़ा से सुख देना। भगवान् भक्तों को निमित्त वनाकर नाटक रचते हैं। सब पात्र उनके ही अधीन हैं। कौन सा नाटक करना है यह भी वे सब जानते हैं, कौन सा पात्र कौन सा अभिनय कब करेगा, इन सब वातों का उन्हें परिज्ञान है। फिर भी जब वे वेप वनाकर रंगमञ्च पर उतरते हैं, तो अपने ही जनों से अपने ही सिखाये पढ़ाये पात्रों से क्रोध करते हैं, युद्ध करते हैं, प्यार करते हैं। इसी का नाम है भगवन्लीला। इसी को अवतार चरित कहते हैं। इसी के पुनः पुनः श्रवण करने से भव वन्धन कटता है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! आपने जय विजय के शाप की वात मुझसे पूछी थी, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक दिन की वात है कि ब्रह्माजी के सनकादि सनदन, सनातन और सनतकुमार ये चारों मानस मुनि नगे धड़ंगे अनेक लोकों में विचरते टहलते, घूमते फिरते भगवान् विष्णु जी के वैकुण्ठधाम में पहुँच गये। इनकी तो सर्वत्र अव्याहत गति थी। भगवान् वैकुंठनाथ के दिव्य भवन में सात ड्योढ़ियाँ लगी हुई थीं। छै ड्योढ़ियों को ये पार कर गये, सातवीं पर जब ये पहुँचे

तो वहाँ के प्रधान द्वारपाल जय विजय इन्हें भीतर जाते देख कर-ललकार कर बोले—"सावधान! सावधान! ओ बच्चो! भीतर मत जाओ!

ये बच्चे तो थे नहीं, इनकी दाढी बाहर न निकलकर पेट की ओर बढी थी, ये तो पूर्वजो के भी पूर्वज थे। इन कल के छोकडो के मुख से अपने को बच्चा सुनकर मन मे बुरा तो लगा फिर भी बिना कुछ कहे इनकी अवहेलना करके वे बढते ही गये। वे इनके ऐसे उपेक्षा भाव को देखकर बोले—"बच्चो! तुम नहीं मानोगे?

"हाँ, नहीं मानेंगे" ये तडाक से बोले।

उन्होंने पडाक से बेत को फटकारा और द्वार रोक कर खडे हो गये और बोले—"अच्छा, देखे कैसे भीतर जाते हो?"

अब काम का छोटा भाई क्रोध मुनियो के ऊपर सवार हो गया 'वहाँ वैकुण्ठ मे वह कैसे पहुँच गया' बस, यही पूछ कर गड-बड सडबड मत करो। क्रोध की भगवान् के बिना सत्ता ही नहीं। अधर्म तो भगवान् की पीठ से ही उत्पन्न होता है। भगवान् का इच्छा हुई आ गया। अब तो मुनियो ने कहा—"जाओ तुम दोनो पापमयी आसुरी योनि को प्राप्त हो जाओ।

"क्यो महाराज?' अब तो उनकी वाणी मे मृदुता थी 'भय बिनु होहि न प्रीति'

"क्योंकि तुम रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हो, भगवान् के लोक मे रहने के योग्य नहीं हो। देखो, अब बच्चो की शक्ति, अभी औंधे मुँह से गिरते हो।" व्यग की हँसी हँसते हुए कुमार बोले।

'अजी महाराज, दया करो। हमतो आपके बच्चे हैं।" अब आई बुद्धि ठिकाने "सभी चमत्कार को नमस्कार करते हैं।" हँस पड़े कुमार।

"दया करो प्रभो! हमने आपको जाना नहीं, आपके स्वरूप को पहिचाना नहीं। आपका वचन माना नहीं। सदा हमे आसुरी योनि में ही न रहना पड़।" दोनो गिडगिड़ा कर कुमारों के कोमल पैरों पर पड़ गये।

साधु का क्रोध पानी की लकीर के समान होता है, आया उसी क्षण समाप्त हो गया। कुमार बोले—"अरे, भाई वचन तो हमारा मिथ्या होगा नहीं, किन्तु तीन जन्मों तक आसुरी भाव को भोगकर तुम फिर भगवान् के लोक में आ जाओगे।'

"तो क्या हम तीनों जन्मों मे भगवान् से पृथक रहेंगे?' पैरो पर पड़े पड़े जय विजय बोले।

कुमार हँस पड़े और कहने लगे—"अरे, भया! तुम भगवान् से पृथक होना भी चाहो, तो नहीं हो सकते। तीनों जन्मो मे भगवान् ही तुम्हें मारेंगे। तीसरे जन्म मे जब पीताम्बरधारी वनवारी तुम्हारा संहार कर देंगे, तब तुम आसुरी भाव से मुक्त हो जाओगे।"

प्रसन्न होकर दोनों पैरों पर से उठ पड़े, फिर दडवत् प्रणाम की और बोले—"तब कोई चिंता नहीं। भगवान् मारेंगे तब तो भगवान् से सम्बन्ध रहेगा। द्वेष से ही सही, उनका निरंतर शत्रु भाव से स्मरण तो बना रहेगा। यहाँ चिरकाल मे पहरेदारी करते करते हम भी ऊब गये थे। अब दो दो हाथ भगवान से ही सही। संकोच तो सम्बन्ध मे ही होता है। द्वारपाल होकर तो स्वामी से लड़ नहीं सकते। जब से वे हमारी वनमाला शङ्ख चक्र,

पद्म और गदा आदि को छीन कर काला मुँह करके असुर बना देंगे, तब हम भी अपनी कुश्ती की कला दिखावेंगे। आपकी कृपा से जलवायु का परिवर्तन हो जायगा। संसार देखने को मिलेगा। अपने स्वामी के विचित्र अवतारों के दर्शन करेंगे। यहाँ तो हम सदा श्रीमती लक्ष्मी जी से पैर दबवाते हुए ही दर्शन करते है। कुछ मार धाड़ हो लड़ाई भिड़ाई हो, खटाखट, चटापट, झटापट, सटापट पटापट हो। उधर से वे मारें इधर से हम, हमारी पटका पटकी झटका झटकी हो, कुछ आनन्द आवे। अच्छी बात है महाराज! गिरते हैं हम।" यह कह कर अड़ड़ड़ धम अड़ड़ड़ धम करके दोनों गिर परे वैकुण्ठ लोक से।

नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर जी से कह रहे हैं—"राजन्! वे ही जय विजय भगवान् कश्यप के अमोघ वीर्य से दिति देवी के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम से प्रसिद्ध हुए, जो दैत्य दानवों के प्रथम पूर्वज और प्रतापशाली राजा थे। उनमें से हिरण्याक्ष को तो भगवान् ने शूकर रूप रखकर पछाड़ा और हिरण्यकशिपु को विकराल नृसिंह रूप बनाकर मारा। फिर वे ही दोनों भगवान् पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा की स्त्री केशिनी के गर्भ से रावण और कुम्भकर्ण रूप में प्रकट हुए, जिन्हें अवधकुलमंडन, कौशल्यानन्दवर्धन दशरथनन्दन मैथिलीहृदयसर्वस्व श्री राघवेन्दु ने युद्ध में मारा था। फिर तीसरे जन्म में वे ही भगवान की दो बुआओं के यहाँ दो मौसियों के यहाँ पृथक्-पृथक् शिशुपाल और दन्तवक्र के नाम से उत्पन्न हुए। इस जन्म में वे भगवान के हाथ मर कर मुक्त हो गये वैर भाव से ही सही। ये निरंतर करते तो भगवान् का ही ध्यान थे। जो जिसका ध्यान करेगा उसी के रूप का हो

जायगा। इसलिये ये भगवान् अच्युत के स्वरूप को प्राप्त होकर उनके समीप चले गये। श्री रामावतार की कथा आप महामुनि मार्कंडेय जी के मुख से श्रवण करोगे।

इस पर धर्मराज ने कहा—"महाराज! श्री रामचरित्र को तो मैं मार्कंडेय मुनि से सुन लूगा और सूकरावतार की कथा इन्हीं भगवान् से सुन लूँगा। किन्तु नृसिंह की कथा तो आप ही मुझे सुना दें। कहीं भगवान् से मैंने सुनी और फिर इन्होंने भूल से वही ही रूप धारण कर लिया, तो यहाँ सब गोविन्दाय नमो नमः हो जायँगे। भगवान् ने नृसिंह रूप किस निमित्त से धारण किया ?"

इसपर नारदजी कहने लगे—"राजन्! हम आपको बता तो चुके, भगवान् के सभी अवतार भक्तों को सुख देने को होते हैं। जब इन्हें असुर राजा हिरण्याक्ष पाताल में ले गया, तो ये उसे मार कर धरा देवी को अपने दाढ़ों पर बिठा कर ऊपर ले आये। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने छोटे पुत्र प्रह्लाद से बहुत द्वेष करता था। उसे मार डालना चाहता था। उसे मारने के उसने बड़े-बड़े उपाय किये। इसी पर भगवान् को क्रोध आगया और अत्यन्त भयानक नृसिंह रूप बना कर खम्भ फोड़ कर तड़ाक से उससे निकल पड़े। खम्भ के बेटा बन गये। चैतन्य के पुत्र तो सभी बनते है, भगवान भक्त के लिए जड़ के पुत्र बन गये।

इस पर धर्मराज ने कहा—"भगवन्! माता पिता का पुत्रों पर प्राणों से भी अधिक ममत्व होता है। पुत्र चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, माता पिता उससे प्यार ही करते हैं, उसका भला ही चाहते हैं। फिर छोटे पुत्र पर तो विशेष स्नेह होता है।

ऐसा कोनसा कारण हो गया, कि पिता पुत्र में इतना द्वेष बढ गया, कि मारने तक की नोबत आई और बाप बेटे की लडाई में रघवा को बधवा बनना पडा। खिले हुए शारदीय कमल के समान मनोहर मुख को भयकर दाढा और बडी बडी मूँछो से सजाना पडा। इस चरित्र को सुनने के लिय मेरे मन में बडा कुतूहल हो रहा है। इसे आप अवश्य सुनाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर नारदजी ने जैसे उत्तर दिया था उसे मैं उसी प्रकार आपसे सुनाऊँगा जिस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने महाराज परीक्षित् को सुनाया था। आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करे।"

छप्पय

विप्र ! रहें कब तलक असुर तन समय बताओ।
मुनि बोले–फिरि यहाँ तीनि जन्मनि महँ आओ ॥
हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये तो प्रथम जनम मह।
नर हरि अरु वाराह हने दोनों तिनि रन महँ ॥
कुम्भकरन रावन बने, राम हाथ मारे गये।
दतवक्र शिशुपाल पुनि, हरि हाथनि मरि सुर भये ॥

———

भाई के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु का श्रीहरि पर क्रोध

(४४६)

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना।
हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २ श्लो०)

छप्पय

नारद बोले—नृपति ! चरित नरसिंह सुनाऊँ।
हिरनकशिपु जस हन्यों भक्त महिमा अब गाऊ ॥
सूकर बनि लघु बन्धु हन्यो तइ भयो दुखारी।
विष्णु हमारो शत्रु असुर कुल को सँहारी ॥
मारूँ पहिले विष्णु कूँ, तब देवनि कूँ वश करूँ।
करिकें विष्णु विहीन जग, असुर वश को दुख हरूँ ॥

अपना तथा अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेष भाव रखने वाले के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक ही है। मातृ, पितृ, भ्रातृ

---

* नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब सूकर रूप धारी भगवान् ने हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला, तब वह क्रोध और शोक के कारण अत्यन्त सतप्त हुआ।"

तथा सम्बन्धियों के हिंसक के प्रति हिंसा के भाव प्रायः सभी के हृदय में उठते हैं, जिसके नहीं उठते वे या तो जड़ हैं या जीवनमुक्त हैं। यदि एक अनुपकार करता है, तो उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी के साथ द्वेष हो जाता है। भगवान् परशुरामजी के पिता जमदग्नि का सिर हैहय वंश के क्षत्रियों ने काटा था, इस पर क्रुद्ध होकर परशुरामजी ने पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों के विनाश की प्रतिज्ञा की और घूम घूमकर २१ बार क्षत्रिय कुल का सहार किया। जब ऋषि मुनियों तक में प्रतिहिंसा के भाव होते हैं, तब असुरों में हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

महाराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! आपने मुझसे पूछा था, कि हिरण्यकशिपु ने अपने सगे और सुपुत्र प्रह्लादजी से द्वेष क्यों किया। इस विषय में पहिले मैं आप को हिरण्यकशिपु का चरित्र सुनाऊँगा। तदनन्तर प्रह्लादजी का स्वभाव बताऊँगा। दोनों के प्रतिकूल भाव होने से कैसे भगवान ने नरहरिरूप धारण करके अपने आश्रित भक्त की रक्षा की इस परम पवित्र आख्यान को अत्यन्त सरसता और मनोरञ्जकता के सहित सुनाऊँगा। अब आप आरम्भ से ही इस चरित्र को सुनिये।

भगवान् ने सूकरावतार धारण करके जैसे धरणी का उद्धार किया और उस अवसर पर जिस प्रकार हिरण्याक्ष का वध किया था यह प्रसङ्ग तो आप सुन चुके होंगे। जब देवताओं के हित के निमित्त सूकर रूपधारी विष्णु ने हिरण्यकशिपु के छोटे भाई को मार डाला, तो यह सुनकर महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त ही कुपित हुआ। एक तो उसे अपने आज्ञाकारी प्यारे

भाई के मारे जाने का दुःख था, दूसरे विष्णु भगवान् देवताओं के साथ पक्षपात करते हैं इसका शोक था। इस कारण वह दाँतों को पीसता हुआ तथा दाँतों से ओठों को काटता हुआ, क्रोधाग्नि से जलता हुआ सभी असुरों को सुनाकर भरी सभा में बोलने को खड़ा हो गया। क्रोध के कारण वह काँप रहा था। मुख से स्पष्ट शब्दों का उच्चारण नहीं होता था, उसकी दोनों भृकुटियाँ टेढ़ी हो रही थीं। नेत्र लाल लाल हो रहे थे, कराल दाढ़ों को निकालने से उसका अति भयङ्कर मुख बड़ा ही भयानक और दुर्धर्ष हो रहा था। रोष में भरकर त्रिशूल को घुमाता हुआ वह सबको सम्बोधन करके बोला—"द्विमूर्द्धा !"

द्विमूर्द्धा ने उठकर नम्रता के साथ कहा—"जी प्रभो ! मैं उपस्थित हूँ, मेरे लिये जो आज्ञा हो ?" तब वह बोला—"त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव कहाँ हैं ?" इतना सुनते ही वे चारों खड़े हो गये और बोले—"प्रभो ! हम भी उपस्थित हैं, जो आज्ञा हो ?"

तब वह बोला—"नमुचि, पाक, इल्वलागज, विप्रचित, पुलोमा और शकुनि को भी बुलालो। जितने प्रधान प्रधान दैत्य दानव हैं वे सब भी सावधान होकर मेरी बात सुनें। जो मैं कहता हूँ उसे अव्यग्र भाव से श्रवण करके उसके अनुसार कार्य करें।"

सबने हाथ जोड़कर कहा—"हाँ अन्नदाता ! हम तो सेवा में सदा समुपस्थित ही हैं। हमें जो भी आज्ञा मिलेगी उसका उसी समय पालन करेंगे।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तो तुम सबको विदित ही है कि मेरे प्राणों से भी प्यारे भाई को इस विष्णु ने सूअर का रूप रखकर मार डाला है।"

हाथ जोडकर शम्बरासुर ने कहा—हाँ, प्रभो! यह तो बड़ा अन्याय हुआ। छोटे महाराज को छल से सूअर रूपधारी विष्णु ने मारा है।"

इस पर क्रोध से ओठो को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"छल से मारा हो या बल से। हम कहते हैं, विष्णु का उसने क्या बिगाड़ा था। हम तो सदा से सुनते आये हैं, कि विष्णु तो समदर्शी है, उसके लिये जैसे ही सुर वैसे ही असुर। अन्तर इतना ही है, कि सुर सदा उसके सामने हाथ जोडकर घिघिआत रहते हैं। उसकी लल्लो चप्पो में लगे रहते हैं। हम लोग उससे सम्बन्ध नहीं रखते। उसके सामने घुटने नहीं टेकते। दाँत नहा गिडगिडाते उसकी प्रशसा के पुल नहीं बाँधते। इसी से वह हमसे चिढा रहता है। अपनी प्रशसा ससारी लोगों को प्रिय होती है। प्रतीत होता है, वह भी आत्मश्लाघा हो गया है। वह भी मिथ्या प्रशसा वचनों का सुनकर फूल कर कुप्पा हो गया है। हमतो सुनते थे विष्णु शुद्ध स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप को किसी से राग द्वेष कैसे हो सकता है? प्रतीत होता है, विष्णु ने अपना स्वभाव त्याग दिया। अब वह भी पक्षपाती बन गया। अब प्रतीत होता है वह भी बच्चो की तरह अस्थिर चित्त हो गया। बालकों के समान बन गया कि जिसने फूल दिखा दिया माला पहिना दी, मिठाई का लालच दिया उसी की ही गोदी मे चला गया। अब वह अपनी मर्यादा से च्युत हो गया है। अतः मैं इसी त्रिशूल से उसके सिर को काट कर उसमें से जो उष्ण रक्त निकलेगा, उसी के द्वारा अपने परम प्यारे सहोदर बन्धु का तर्पण करूँगा। उस रक्त को पान करके मेरा परलोकगत बन्धु अत्यन्त सन्तुष्ट होगा।

इस पर नमुचि ने कहा—"प्रभो! हमारे मुख्य शत्रु तो

देवता हैं। पहिले उन्हें ही मारना चाहिए। तदन्तर विष्णु पर चढ़ाई करना चाहिए।"

यह सुनकर हिरण्याक्ष बोला—"अरे, तुम समझते नहीं! अरे, भाई बात यह है कि देवता तो हैं नपुंसक। उनमें तो कुछ बल पौरुष है नहीं। ये तो प्रसिद्ध भगोड़े जगत् विख्यात हैं। मेरे भाई को ही देखकर इन्द्र शची के भवन में चूड़ी पहिन कर बैठ गया। इन सब को एक मात्र विष्णु का ही बल है। विष्णु ही इनके साहस और उत्साह का मुख्य कारण है। अतः पहिले मूलका उच्छेदन कर देना चाहिये पहिले जड़ ही काट देनी चाहिए। जड़ के कट जाने पर पत्ता, पुष्प शाखा आदि तो अपने आप गिर पड़ेंगे जैसे घर की नींव को खोद दो तो पूरा घर गिर पड़ेगा, उसी प्रकार विष्णु को मार देने पर ये सब देवता भी निस्तेज और श्री हीन हो जायँगे।"

इस पर असुरों ने कहा—"हे असुरेन्द्र! शत्रु को मारने के पूर्व उसे दुर्बल बना लेना चाहिए। दुर्बल शत्रु शीघ्र ही मारा जा सकता है।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तुम लोगों की सम्मति सर्वथा सत्य है। विष्णु का मूल है यज्ञ। यज्ञ को विष्णु ही कहा है। यज्ञ होते हैं वेद, ब्राह्मण और गौओं की सहायता से। जहाँ धर्म है वहाँ विष्णु हैं, क्योंकि उन यज्ञ स्वरूप पुराण

पुरुष का यथार्थ रूप तो धर्म ही है। धर्म के आश्रय पर ही ये देवता, पितर, ऋषि, मुनि तथा पंचभूत आदि सभी स्थित हैं। इसलिये पहिले इन्हे नष्ट करो। इनके नष्ट होने से विष्णु निर्बल बन जायगा। जब यज्ञादिक ही न होंगे, तो विष्णु को यज्ञ भाग भी न मिलेगा। यज्ञ भाग न मिलने से वह निर्बल हो जायगा। अतः जहाँ यज्ञ होते हो, उन देशो को जला दो। ब्राह्मणों को मार कर यमपुर पहुँचा दो। उनके रक्त का तुम सब पान करो। गौओं को मार दो। ब्राह्मणों के पेट फाड़ दो।"

हिरण्यकशिपु की यह आज्ञा क्या हुई मानो असुरो को निधि मिल गई। वे तो मार काट और हिंसा तथा क्रूरता के लिए उधार खाये ही बैठे रहते थे। उन्हे तो जीवो को मारने मे हिंसा आदि करने मे बडा आनन्द आता था। बस, फिर क्या था, सभी ने अपने अपने अस्त्र शस्त्र उठाये और पृथ्वी मे घूम घूमकर ब्राह्मणोंको सताने लगे। घरोंमे आग लगा देने लगे। धर्म के विरुद्ध जो भी कुछ कर सकते थे करने लगे। ग्रामोंमे चले जाते उन्हें जला देते, नगरो को नष्ट कर देते। व्रज, उद्यान, क्षेत्र, बगीचे, आश्रम, खान, खेट, खर्वट, घोष तथा नगरो को स्वाहा करने लगे। कुल्हाड़ी से फलों वाले वृक्षो को काटने लगे। कुदाली से सेतु, परकोटा, नगर द्वार तथा महलों को खोदने लगे। बड़ी बड़ी राजधानियों को अग्नि लगाकर स्वाहा करने लगे।

नारद जी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार जब हिरण्यकशिपु के दैत्यों ने पृथ्वी पर जाकर यज्ञयागों को वन्द कर दिया, तो देवताओं को कोई हवि ही न देता। वे भूख के कारण यज्ञ भाग से वञ्चित होकर साधारण मनुष्य जैसे पृथ्वी पर घूमते हैं, वैसे ही घूमने लगे। स्वर्ग पर तो हिरण्यकशिपु का

अधिकार ही हो गया। वहाँ भूखे देवता क्या करें ? अतः अपना वेप बदल कर विपत्ति के दिनों को कष्ट से का लगे।"

छप्पय

हे शम्बर! हे नमुचि! शकुनि! सब मिलिके जाओ।
वेद विप्र गौ यज्ञ अवनि तैं जाइ मिटाओ॥
यज्ञरूप हैं विष्णु, देवता यज्ञ सहारे।
विष्णु यज्ञ मिटि जाँई देव का करें विचारे॥
दुर्बल देवनि पक्ष लै, विष्णु कपट सूअर बन्यो।
समदर्शी ने छल सहित, सुहृद सहोदर मम हन्यो॥

हिरण्यकशिपु का अपने सम्बन्धियों को धैर्य देना

(४५०)

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः॥

(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अनुशासन सुनि असुर अवनि पै मिलि सब आये।
सब वर्णाश्रम धर्म यज्ञ यागादि मिटाये॥
भये देव अति दुखित यज्ञ आहुति बिनु पाये।
हिरण्यकशिपु इत मातु वधुसुत पास बिठाये॥
दई सान्त्वना सबनिकूँ, शोक मग्न जे अति भये।
यह झूठो संसार सब, उदाहरन बहुतक दये॥

जब हमारा कोई सगा सम्बन्धी मरता है, तो हम रोते हैं,

हिरण्याक्ष के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु सबको समझाते हुए कह रहा है। अपनी माता दिति, हिरण्याक्ष की स्त्री और उनके बच्चों को सम्बोधन करके उसने कहा—"माताजी! ओ बहू! और देखो बेटी! तुम भी सुनो। शूरवीरों को शत्रु के सम्मुख युद्ध में शरीर त्यागना परम श्लाघनीय और प्रशंसनीय है अतः तुम्हें मेरे उस शूरवीर भाई के सम्बन्ध में तनिक भी शोक न करना चाहिए।"

दुखी होते हैं। जब हमारे किसी सम्बन्धी का सम्बन्धी मरता है तो हम उसे समझाते हैं, संसार को अनित्य बताते हैं, शोक करने को व्यर्थ बताते हैं। यह प्रथा सनातन है। स्वयं रोने के समय रोवेंगे। किन्तु दूसरे को समझाने के समय उसी रुदन की निन्दा करेंगे। अर्जुन को समझाते समय तो भगवान् ने कैसा ज्ञान दिया, किन्तु जब उनके ससुर मर गये तो—लोक दिखावे को ही सही—वे भी पिताम्बर से अपने आसुओं को पोंछ कर सिसकियाँ भरने लगे। यह लोकाचार है। रोने के समय रोना और समझाने के समय शोक करने को व्यर्थ बताना।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपने छोटे भाई हिरण्याक्ष को अत्यन्त ही प्यार करता था। जब उसे वाराह भगवान् ने मार डाला, तो उसे देवताओं पर और विष्णु भगवान पर अत्यन्त क्रोध आगा। उसी क्रोध में भर कर उसने असुरों को अवनि पर वैदिक धर्म के नाश करने के निमित्त भेजा। असुरों ने जाकर ऐसा ही किया। देवता निर्बल बन गये। अब स्वयं भी उसने विष्णु भगवान् से बदला लेने का उद्योग किया। बिना शक्ति संचय किये, बिना अजर अमर और रण में अजेय बने विष्णु जीते नहीं जा सकते। इसलिये उसने तपस्या करने का निश्चय किया। क्योंकि तपस्या के बिना शक्ति बढ़ती नहीं।

तपस्या की जाने के पूर्व जो हिरण्याक्ष के वध से दुखी उसकी माता थीं, हिरण्याक्ष की बहू थी तथा उसके पुत्र थे. उन्हें सान्त्वना देना, समझाना बुझाना आवश्यक था। इतने वीर पराक्रमी के शोक से सभी परिवार वाले अत्यन्त दुखी थे।

रो रहे थे। अतः उन सब को उसने अपने समीप बुलाया। दिति अपने छोटे पुत्र के शोक से सन्तप्त थी हिरण्याक्ष का बहू विधवा हो जाने के कारण अत्यन्त दुखी थी। उसके शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्म उत्कच आदि पुत्र पिता के मर जाने से अत्यन्त चिन्तित और उदास हो रहे थे। हिरण्याक्ष ने सबको समीप बिठाकर मधुर वचनों में सान्त्वना दी और समझाते हुये कहने लगा। पहिले उसने अपनी माँ दिति से ही कहा—'अम्मा! देख, हिरण्याक्ष सोच करने योग्य तेरा पुत्र नहीं है। संसार में शोचनीय तो वह होता है, जो शूकर कूकर की भाँति पैदा हुआ, न यश कमाया न धर्म किया पशु पक्षियों की भाँति आहार विहार में दिन बिताकर कुत्ते की मौत मर गया। वह तो अवश्य ही शोचनीय है, किन्तु जिन्होंने संसार में आकर यश कमाया, अपने प्रबल पराक्रम से शत्रुओं का हृदय दहलाया, बड़े बड़े अभिमानियों पर आतंक जमाया और सम्मुख युद्ध में हँसते हँसते शत्रु को बिना पीठ दिखाये शस्त्र के प्रहार से वीर गति को प्राप्त हुआ, ऐसा पुत्र तो परम प्रशंसनीय है। जननी ऐसे ही पुत्र से पुत्रवती कहलाती है। ऐसे ही पुत्रों से उसकी कोख सफल समझी जाती है। तेरे पुत्र ने सभी देवता और लोक पालों को वश में किया। शत्रु जिसके नाम से थर-थर काँपते थे, देवताओं के उसकी चर्चा से रोंगटे खड़े हो जाते थे, ऐसे शूरवीर का स्वयं साक्षात् विष्णु भी सामना न कर सके। उन्हें भी कपट वेष बनाकर उससे युद्ध करना पड़ा। यदि युद्ध में दुर्बल शत्रु से मारा जाय, तो भी कुछ सोचने की बात है, किन्तु प्रबल शत्रु के हाथ से तो मारे जाने में भी प्रशंसा है। इसलिये तुम्हें अपने बच्चे के लिये तनिक भी सोच न करना चाहिये।

दिति ने यह सुनकर आँसू पोंछते हुए कहा—"वेटा! तू कहता तो सत्य है। मेरा बच्चा संसार में सर्व श्रेष्ठ बली था। उसका सामना कोइ भी नहीं कर सकता था। किन्तु क्या करूँ जब मैं सम्मुख इस विधवा वहू को देखती हूँ, तो मेरा हृदय फटने लगता है। ये इसके छोटे छोटे बच्चे पितृहीन होकर विलविला रहे हैं। मरने का समय तो मेरा था। जिस माता के सामने उसका युवावस्थापन्न पुत्र मर जाय, उसके समान अभागिनी संसार मे और कौन हो सकती है? जिसकी युवती बहू सास के सम्मुख ही अपने सिर के सिन्दूर को पोंछकर विधवा बन जाय, उस बहू को देखकर कौन सास धैर्य धारण कर सकती है? मेरा क्या है वेटा, मैं तो नदी के कूल की लता के समान हूँ, कब कूल कट जाय कब नष्ट हो जाय। मुझे तो इन बच्चों का, इस भोली भाली बहू का सोच है। इन्हें तू समझा।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने छोटे भाई की बहू को जो अपने जेठ के सामने घूँघट मारे रो रही थी, जो उसकी पुत्रवधू के समान थी। सम्बोधन करके कहा--"बहू! तू इतनी बुद्धिमती होकर इस प्रकार बच्चों की भाँति विलाप कर रही है। यह बात ठीक नहीं। देख, सोच तब किया जाता है जब तेरा पति कहीं चला गया हो। अरी, पगली! वह तो यहीं है जिसकी कीर्ति ससार में व्याप्त है. वह मरकर भी जीवित हुआ बना हुआ है।"

बहू ने आँसू पोंछते पोंछते घूँघट में से ही सिसकियाँ भरते हुए कहा—"मुझे तो वे दीखते ही नहीं। उनके बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगी?"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त प्रेम के साथ भर्राई हुई वाणी मे कहना आरम्भ किया। भाई क स्मृ ते से उसका भी हृदय भर रहा था, किन्तु अपने को धैर्यवान सिद्ध करते हुए वह बोला—'दीखते क्यों नहीं। ये जो तेरे सामने शकुनि, शम्बर धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, आदि सब बच्चे बैठे है ये सब उसके ही तो प्रतिरूप हैं। पिता ही स्त्री के पेट से पुत्र बन कर फिर मे उत्पन्न होता है। इसलिए पुत्रवती स्त्री जाया कहलाती है। वह अपने पति को ही उत्पन्न करती है, उसी के तेज को उदर मे धारण करती है।"

रही सम्बन्ध की बात सो, यह ससारी सम्बन्ध तो क्षण भर का है। मार्ग मे चल रहे हैं। चलते चलते थक गये कोई पाना का पौंसला देखा। कहीं तालाब का किनारा आ गया। छायादार वृक्षों को देख कर बैठ गये। कुछ पूर्व के यात्री आ गये, कुछ पश्चिम से आ गये सब मिलकर एक पेड की छाया म विश्राम करने लगे। मीठी मीठी प्रेम की बातें होने लगा। क्षण भर मे सम्बन्ध हो गया। जहाँ दोपहरी ढल गई धूप कुछ कम हो गई। कोई पूर्व चला गया, कोई पश्चिम को चला गया। सभी बिछुड गये। इसी प्रकार यह ससार रूप अध्वा है। इसम य सम्बन्ध ही बटोही हैं। भाग्यवश गृहस्थी रूपी छाया म सब मिल जाते हैं। परस्पर म प्रेम करने लगते हैं, समय आने पर फिर सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।"

इस पर दिति ने कहा—'हाँ, भैया कहता तो तू यथार्थ है किन्तु फिर भी अपने आदमी के मरने का शोक होता ही है।

हिरण्यकशिपु ने बात पर बल देते हुए कहा—"मरना

क्या ? मरना भी एक प्रकार का भ्रम ही है। शरीर तो मरता नहीं । यहीं पड़ा रह जाता है । जब जीव इस शरीर से पृथक् हो जाता है, तो इस शरीर के सीमित पंचभूत महाभूतों में मिल जाते हैं। रही आत्मा की बात, सो आत्मा न मरता है, न जन्म लेता है। वह तो नित्य अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध सर्वगत तथा सर्वज्ञ है । उसका देह, इन्द्रिय, मन, आदि से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इन सब से वह सर्वथा पृथक् है।

दिति ने कहा—"फिर भैया, वह देह धारण क्यों करता है ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"माँ ! वास्तव में आत्मा तो न देह धारण करता है, न छोड़ता है। वह अपनी अविद्या शक्ति से ही सुख दुःखादि गुणों को स्वीकार करता हुआ सा दिखाई देता है और लिङ्ग शरीरों में उसका भान होता है।

दिति ने कहा—"जब ये मायिक गुण आत्मा में नहीं हैं, तो इन गुणों को अपने में धारण करके वह नाना क्रियाओं को क्यों कर रहा है ? क्यों भ्रान्तवत् बना है ?"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"कल्याणि ! माता जी, आप स्वयं सोचें। आत्मा वास्तव में निर्विकार है, किन्तु अविद्या जन्य इन मायिक गुणों के कारण मन के भ्रमित होने पर आत्मा भी भ्रमित सा जान पड़ता है। वस्तुतः वह देहादि लिङ्ग से रहित होने पर भी उनसे युक्त जान पड़ता है।"

दिति ने कहा—"भैया! यह कैसे हो सकता है।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—'देखो, माँ! हम किसी नौका मे बैठकर नदी की प्रबल धारा की ओर जाते हैं। नौका बड़े वेग से बह रही है, तो किनारे के वृक्ष हमे ऐसे लगते है मानो ये हमारे साथ ही साथ चल रहे है। यही बात वेग वाली सवारी मे बैठने से दीखती है। वास्तव मे वृक्ष तो स्थिर हैं, वे चल नहीं रहे हैं। नौका के चलने के कारण भ्रम से उनमे चलने की प्रतीति होती है। छोटे-छोटे बच्चे चाई माँई करके घूमते है भ्रमरी नृत्य करते हैं। वेग से घूमने के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो यह समस्त पृथ्वी वृक्ष आदि घूम रहे है। भ्रमवश अज्ञानी बालक कहते हैं—'हमारे साथ पृथ्वी भी घूम रही है। यह सब आत्मविपर्यय के कारण ही होता है।"

दिति ने पूछा—"आत्म विपर्यय, भैया! किसे कहते है?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—'अशरीरी आत्मा मे शरीर की भावना होना। असत् का सत् समझना, अनात्मा मे आत्मा का आरोप करना। यही आत्मविपर्यय कहलाता है। बस यह आत्म-विपर्यय ही दुख, शोक तथा चिन्ता का हेतु है। इसी के कारण यह प्रिय है, यह अप्रिय है। यह सुख है, यह दुःख है, यह अनु-कूल है, यह प्रतिकूल है। यह संयोग है, यह वियोग है। इस प्रकार के द्वन्द्वो की अनुभूति होती है। इसी आत्मविपर्यय के कारण कर्म करते हैं और उन कर्मों के द्वारा संसार मे जन्म-मरण होता है। नाना प्रकार के शोक, मोह, द्वेष, भय, उद्वेग, आधि, व्याधि, अविवेक, आत्मविस्मृति तथा अनेक प्रकार की चिन्ताये होती हैं। इस विषय मे मैं तुम सबको एक बहुत ही प्राचीन शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब बड़ी सावधानी से सुनो। उसके सुनने से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

नारदजी कहते हैं—"धर्मराज ! यह कहकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भ्रातृपत्नी तथा भतीजों को बहुत ही सुन्दर शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाने लगा। उसे आप भी समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

देखो माता कौन बन्धु का को सम्बन्धी।
करें मृतक हितशोक प्रथा जग की यह अंधी॥
नदी धार तृन बहें परस्पर महँ मिलि जावें।
सङ्ग सङ्ग कछु चलें फेरि इत उत बिलगावें॥
आत्मा अविनाशी अमर, सदा एकरस सर्वगत।
मायिक गुण सम्बन्ध तें, भ्रमवश दीखें भ्रान्तवत॥

यमराज और प्रेतबन्धुओं का सम्वाद

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य प्रेतबन्धूनां सम्वादं तं निबोधत ॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

नृप सुयज्ञ इक मर्यो युद्धमहँ शत्रुहाथ तें ।
दुःखित परिजन भये भूप की मृत्युबात तें ॥
मृतक देहकूँ घेरि बन्धु रोवें डकरावें ।
छाती सबई धुनें दीन ह्वेकें बिललावें ॥
रानिनि रोवत देखि कें, यम बालक बनि कें गये ।
विविधि भाँति के ज्ञानतें, सबकूँ समझावत भये ॥

भगवान् की माया कैसी प्रबल है, मनुष्य नित्य देखता है, संसार में कितने लोग नित्य पैदा होते हैं, कितने मरते हैं। हमारे सम्मुख कितने बच्चे पैदा हुए, कितने पैदा होते ही मर

हिरण्यकशिपु अपनी माता आदि को समझाते हुए कह रहा है—"इस सम्बन्ध मे एक मृतक व्यक्ति के बन्धुओं के साथ यमराज का जो सम्वाद हुआ था वह पुराना उदाहरण कहा जाता है। उस इतिहास को तुम सब मुझसे श्रवण करो।"

गये, कितने १०।५ वर्ष के होकर मरे. कितने ही युवा होकर मर गये, कोई अधेड़ अवस्था मे कोई वृद्ध होकर मरे। हमारे कितने साथी मर गये, घर मे ही बाबा, पिता, चाचा, ताऊ, गोत्र परिवार वाले मरे, हमें भी एक दिन अवश्य मरना है, फिर प्रियजनो की मृत्यु पर लोग कितना दुख करते है, कितने रोते बिलबिलाते है यह सब भगवान् की माया का चक्कर है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि मे जन्म भी एक खेल है, मृत्यु भी एक खेल है। जीवात्मा तो मरता नहीं। शरीरों का रूपान्तर हो जाता है। इसमे सोच करने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि मरा हुआ पुरुष लौटकर आ नहीं सकता। यम जिसे उठा ले गया वह चला गया।

नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई की पत्नी तथा भतीजो को, समझाते हुए कह रहा है—"देखो, तुम सब ध्यानपूर्वक सुनो, मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

प्राचीन काल मे उशीनर देश के एक बड़े धर्मात्मा शूरवीर राजा थे। उनका नाम था सुयज्ञ। सुयज्ञ यथा नाम तथा गुण थे। उन्होने बड़े-बड़े यज्ञयाग किये थे। वे अपनी पत्नियों को दान सम्मान से सदा सन्तुष्ट रखते थे। अपने बन्धु बान्धवों मे भी बड़ा स्नेह रखते थे। सम्पूर्ण प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी, वे भी सबका भेदभाव और पक्षपात के बिना पुत्र के समान पालन करते थे। एक समय की बात है कि शत्रुओं ने एक साथ मिलकर उन पर चढ़ाई की। राजा शूरवीर और योद्धा तो थे ही। उन्हें अपने बाहुबल का भरोसा था। अतः वे

शत्रुओं से लड़ने गये। कई शत्रुओं ने अकेले राजा को घेर लिया और उन्हें मार डाला।

राजा की रानियों ने जब अपने प्राणनाथ के परलोक प्रयाण का दुःखद समाचार सुना तो वे छाती पीटती हुई रण भूमि की ओर नगे पैरों ही बिना सवारी के पैदल चलीं। राजा के बन्धु बान्धव, पुत्र तथा मन्त्री पुरोहित भी शोक सन्तप्त हुए आँसू बहाते हुए राजा को देखने चले। रानियों और राजपरिवार के लोगों को आते देखकर धर्मतः शत्रु सेना वहाँ से हट गई और राजपरिवार के लिये सभी सुविधायें कर दीं। रानियों ने जब अपने प्राणेश्वर को पृथ्वी में रक्त से लथपथ पड़ा देखा, तो उनके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। महाराज जो रत्न जड़ित कवच अपने अङ्ग में पहिने थे, वह बाणों तथा अन्य अस्त्रों के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो गया था, उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे। मणि मुक्ताओं की मालायें जहाँ तहाँ बिखरी पड़ी थीं। हृदय में अनेकों बाण बिँध रहे थे। उनसे रक्तस्राव हो रहा था। सिर के सुन्दर शोभायमान बाल इधर उधर बिखरे हुए थे। नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी। क्रोध के कारण वे दाँतों से ओठ को काट रहे थे। उनका मुखारविन्द म्लान हुआ धूलि से धूसरित हो रहा था। कहीं तूणीर पड़ा था। कहीं टूटा हुआ धनुष पड़ा था। उनके प्राण पखेरू शरीर त्याग करके परलोक को प्रयाण कर गये थे।

राजा को इस दशा में देखकर उनकी सब रानियाँ उसी प्रकार चिघाड़ मारने लगीं जैसे यूथपति के मारे जाने पर हथिनियाँ चिघाड़ मारती हैं। उन स्त्रियों ने लज्जा का परित्याग कर दिया था। जिन्हें सूर्य भी कभी नहीं देख सकता था, उन्हें

आज साधारण सैनिक बिना बाधा के देख रहे थे। उनके नेत्रों से श्रावण भादों के मेघ के समान अश्रुओं की धारा बह रही थी। वे मृतक महाराज के चरणों को अपने वृक्षस्थलों पर धारण करके रो रही थीं। सिर धुन धुनकर कह रही थीं—"हा नाथ! हम तो बिना मौत के ही मारी गईं। हे प्राणनाथ! आप हम सबका परित्याग करके अकेले ही कहाँ चले गये।

अत्यन्त शोक के कारण जो उनके अश्रु कपोलों के द्वारा बहकर वक्षःस्थल पर आते और वहाँ कुच कुंकुम की अरुणिमा को साथ लिये हुए प्रियतम के पादपद्मों पर पड़ते तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे अपने हृदय के स्निग्ध अनुराग से पति के पैरों का प्रक्षालन कर रही हों।

वे रो रही थीं, शोक में हिल डुल रही थीं, मृतक पति के अंगों का आलिङ्गन कर रही थीं, उनके सिर के वस्त्र उतर गये थे, केश पाश अस्त व्यस्त हो गये थे। उनमें लगी मालती सुमनों की माला गिर गई थी, उनकी आँखों का अञ्जन धुल गया था। सम्पूर्ण शरीर रक्त से सन गया था, वे कुररी पक्षिणियों की भाँति करुण क्रन्दन करती हुई कह रही थीं—"हाय! निर्दयी विधाता! तूने यह क्या किया? हमारे साथ ऐसा अन्याय क्यों किया? हमने तेरा क्या बिगाड़ा था, तैंने हमसे किस बैर का बदला लिया। असमय में तैंने हमें अपने प्राणेश्वर से पृथक् कर दिया। ऐ निर्दयी दैव! तुझे दया भी नहीं आती। अबलाओं पर अपना बल दिखाते हुए तुझे लज्जा भी नहीं लगती, हम अब किसके आश्रय में रहें। किनका कमलमुख देखकर जीवन धारण करें।"

इस प्रकार वे विधाता को उपालम्भ देती हुई फिर अपने

पति को सम्बोधन करके कहने लगी—'स्वामिन्! हे प्राण नाथ हे जीवन सर्वस्व! आपतो अपनी प्यारी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, आपतो सब के वृत्ति दाता तथा भय त्राता थे। भयभीत हुई हम सबको आप भय से क्यो नहीं बचाते? हम दुखियों को हमारे सिर पर अपना सुखस्पर्शी करकमल रखकर हमे धैर्य क्यों नहीं बँधाते? आप हम असहाय अबलाओ को अनाथ करके अकेले ही परलोक को क्यो चले गये। आप जैसे अत्यन्त कृतज्ञ प्रियतम के बिना हम सब कैसे जीवित रह सकगी? किनका स्नेहभरित मधुमय मजुल मुख देख कर प्राण धारण कर सकेंगी? हे पृथिवीपते! हम पत्नियो से उदासीन होकर आप पृथिवी का आलिंगन किये चिरकाल से क्यों पडे हैं। यह आपके अयोग्य है। आपतो सदारत्न जडित शैया पर शयन किया करते थे। हे वीर! यदि आपने भूमण्डल को परित्याग करके परलोक जाने का निश्चय ही कर लिया है, तो आप अकेले न जायँ। वहाँ अपकी सेवा कौन करेगा। आप हम सब को भी साथ ले चले। हम सदा से आप के चरणों की चेरी रही हैं। हमारे अधिकार पर आघात न करें हमार स्वत्व को न छीने, हे देव! हमे भी आप अपने सग ही ले चलो।"

हिरण्यकशिपु कह रहा है—'देखो, जब वे स्त्रियाँ अपने मृतक पति से लिपट कर इस प्रकार शोक करती हुई करुण क्रदन करने लगीं तब सभी का हृदय फटने लगा। सूर्यास्त हो रहा था, राजा के बन्धु बान्धव महाराज के मृतक शरीर का दाह सस्कार करना चाहते थ, क्योंकि रात्रि मे तो दाह सस्कार हो नहीं सकता, किन्तु शोक के कारण वे स्त्रियाँ राजा के शरीर को किसी भी प्रकार छोडने तैयार

नहीं थी तब राजा के समस्त परिवार के लोग अत्यन्त ही दुखी हुये।

उन सबको इस प्रकार दुखी देखकर सहसा न जाने कहाँ से एक ४, ५ वर्ष का बालक वहाँ आ गया। वह मैले कुचैले वस्त्र पहिने हुये था। उसके मुख पर मंद मुस्कान छिटक रही थी। देखने में वह बड़ा तेजस्वी जान पड़ता था। राजा की रनियाँ और उनके बंधु बान्धवों को इस प्रकार शोक में मग्न हुआ देखकर स्वयं अपने आप कुछ कहने लगा मानो आकाश से बातें कर रहा हो।

उसने उपेक्षा के स्वर में कहा—'देखो, भगवान् की कैसी प्रबल माया है। ये रोने वाले स्त्री पुरुष मुझसे अवस्था में कितने बड़े हैं। कितने लोगों को नित्य मरते देखते हैं। फिर भी इन्हें बोध नहीं होता। यद्यपि मैं बालक हूँ। अभी मेरी अवस्था बहुत छोटी है, फिर भी मुझे कोई विशेष दुःख नहीं होता। इनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दया के कारण मुझे दुःख हो रहा है। ये सब संसार की जन्म मरण रूप गति को निरन्तर देखते हैं, देखते हुये भी ये अन्धे हो रहे हैं। हमें जाल में जकड़े हुये हैं। बताइये, सोच करने की इनमें कौन सी बात है। और, सुयज्ञ सदा तो यहाँ रहने वाला नहीं था। कहीं से आया था, जहाँ से आया था, वहाँ चला गया। इसके लिये रोना धोना व्यर्थ है। अच्छा, यदि ये रोने वाले भी सदा यहीं बने रहें, तो भी रोने का कुछ अर्थ हो सकता है। ये स्वयं भी मरणधर्मा हैं। एक दिन इन सबको भी मरना है, इसी के पथ का अनुसरण करना है, फिर रोने का काम क्या?

हिरण्यकशिपु कह रहा है—'हे माताजी ! उस बालक

की बातों को ध्यानपूर्वक सुनो। वह सुनती है ? तू भी कान खोलकर सुन ले। बेटाओ, तुम भी उस बालक के वचनों

पर विचार करो। देखो, उसने कैसी ज्ञान की गूढ़-गूढ़ बातें कहीं। सब को सावधानी से सुनो और सुनकर मनन करो, तब तुम्हारा सब शोक मोह दूर हो जायगा।

छप्पय

बोले अपने आप अहा अद्भुत हरि माया।
पति है का को कौन कौन काकी है जाया॥
नितईं देख मरत न सोचें तोऊ प्रानी।
काल न देखें दीन दुखी राजा अरु रानी॥
आयो जहँ तें जिह, करे तहाँई गमन हैं।
सब तहाँ सब जायगे, व्यर्थ शोक दुख रुदन हैं॥

सबके रक्षक श्रीहरि ही हैं

(४५२)

अहो वयं धन्यतमा यदत्र,
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः,
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ।।
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शिशुपन तें ई हमें पिता माता ने त्याग्यो ।
कोई ढिँग नहिँ रखे कहत सब बडो अभागो ।।
ह्वै अनाथ वन माँहि फिरें तहँ तर सो जाव ।
भोजन हू मिलि जाइ भेड़िया सिंह न खावे ।।
मृत्यु समय यदि निकट नहिँ, रहे चाहिँ वन महँ परयो ।
करें सदा पालन जिननि, गर्भ माँहिँ पालन करयो ।।

काल को दुर्निवार बताया है। मृत्यु को कोई टाल नहीं सकता। जन्म के साथ ही साथ मृत्यु उत्पन्न होती है। मृत्यु की घड़ियाँ जन्म लेने के साथ ही माता के उदर में ही निश्चित

प्रेतबन्धुओं से बालक रूपधारी यम कह रहे हैं—"अहो! हम ही परम धन्य हैं, क्योंकि हमें हमारे माता पिता ने परित्याग कर दिया है,

हो जाती हैं। ययमाता अपनी लेखनी से लिलार में लिख देती है, इसकी मृत्यु अमुक समय में अमुक के द्वारा अमुक स्थान में होगी। जो ययमाता ने लिख दिया उसे कोई मेट नहीं सकता। उसकी अलीक लिपिको कोई अन्यथा नहीं कर सकता। विधि के लेख पर मेख मारने की सामर्थ्य किसकी है। जिसका काल नहीं आया है, उसे कोई किसी भी उपाय से न मार सकेगा। उसे विष दे दीजिये पच जायगा या वमन होकर निकल जायगा। विषधर सर्प से कटा दीजिये कुछ न होगा। पर्वत से गिरा दीजिये जीवित बच जायगा। सहस्रों अस्त्र शस्त्रों के प्रहारों को सह कर भी वह सकुशल लौट आवेगा। इसके विपरीत जिसका काल आगया है वह कंकड़ी से मर जायगा। छींक आते ही प्राण निकल जायँगे बैठे-बैठे, खाते पीते, बोलते चालते हृदय की गति रुक जायगी। इसलिये अवश्यम्भावी मृत्यु के लिये सोच न करना चाहिये। मृत्यु का आना अवश्यम्भावी है, जो पैदा हुआ है उसे एक दिन अवश्य मरना है, उसे कोई किसी भी उपाय से अन्यथा नहीं कर सकता। जो दुर्निवार वस्तु है, उसके लिये सोच करना मूर्खता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता बहन और भतीजों को समझाते हुये कह रहा है— देखो! जब सुयज्ञ की रानी विलाप कर रही थीं तो उस बालक ने हँसकर कहा—"देखो! ये इतनी बड़ी बड़ी अवस्था के स्त्री पुरुष इस प्रकार अनाथों की भाँति रुदन कर रहे हैं। इनके घर है, द्वार है, धन है परिवार है। फिर भी ये अपने को दुखी समझ रहे हैं। इसलिये कि इनका सगा

फिर भी हम चिन्ता नहीं करते। हमारे में बल नहीं है, फिर भी जंगल में रहने पर भी हमें भेड़िये आदि हिंसक जन्तु नहीं खाते। सच है जिसने गर्भ में रक्षा की है वही अब भी करेगा।"

सम्बन्धी राजा मर गया है। अब जो मर गया सो मर गया। मरा हुआ लौटकर तो आ नहीं सकता। जिसका काल आ गया है, उसे कोई बचा नहीं सकता और जिसका काल नहीं आया उसे कोई किसी भी उपाय से मार नहीं सकता।

हम बाहर दृष्टान्त खोजने कहाँ जायँ, हम अपनी ही बात बताते हैं। एक दरिद्र के घर में हम उत्पन्न हुए। बाल्यकाल में ही हमारे माता पिता हमें अबोध छोड़कर मर गये। हम अनाथ और असहाय हो गये। किसी सगे सम्बन्धी ने हमें आश्रय नहीं दिया। घोर अरण्य में आकर हम भाग्य के सहारे बैठ गये। हमने निश्चय कर लिया यदि हमारी मृत्यु है, तो हमें कोई कितना भी सुख देकर बचा नहीं सकता। यदि हमारी मृत्यु अभी नहीं है तो हमें कोई किसी भी उपाय से मार नहीं सकता। इसी धारणा को दृढ़ करके हम स्वच्छन्द होकर वनों में विचरते हैं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। प्रारब्ध-वश जो मिल जाता है उसे खा लेते हैं। गङ्गा जी के स्वच्छ निर्मल पापहारी पय को पी लेते हैं और वृक्षों के नीचे पड़े रहते हैं। हमें न तो कोई सिंह आकर खाता है, न व्याघ्र। न चीता आता है न भेड़िया। रीछ निकट से निकल जाते हैं सर्प कभी कभी साथ ही सो जाते हैं। न कोई काटता है, न सताता है, क्योंकि हमारा अभी काल नहीं आया। जिस दिन काल आगया, उस दिन बड़े बड़े महलों में रहें तो वहाँ भी नहीं बच सकते। न तो कोई मनुष्य किसी को मार सकता है, न जिला सकता है। इसी सुयज्ञ ने न जाने कितनों को युद्ध में परास्त किया था, उस समय कोई इसका बाल भी बाँका न कर सका। अब इसकी मृत्यु का समय आ गया. शत्रु के

हाथों मारा गया। इसमें शोक संताप करने को कौन सी बात है देखो, चन्द्रहास को मारने के लिये कितने कितने उपाय किये गये तो भी वह मरा नहीं। उल्टे भगवान् की कृपा से उसका वैभव ई बढ़ा अनाथ से राजा हो गया।

इस बात को सुनकर शौनक जी बोले—"महाभाग! चंद्रहास को शत्रुओं ने क्यों मारना चाहा और वे कैसे बच गये। इस कथा को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। आप उचित समझें तो इस उपाख्यान को हमें सुनावें।

शौनक जी की बात सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह बड़ा ही सुन्दर रोचक और शिक्षाप्रद कथानक है। इसे आप सब को सुनाता हूँ आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक बड़े धर्मात्मा राजा थे। उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र सर्वाङ्ग सुन्दर था। उसका मुखमंडल भव्य था, देखने में वह अत्यन्त ही मनोहर लगता था। उसके अङ्ग सुडौल थे सुवर्ण के समान उसका वर्ण था। सर्वगुण संपन्न होने पर भी उसमें एक दोष था। वह व्यङ्ग था ५ के स्थान में एक हाथ में उसके ६ उँगलियाँ थीं। ज्योतिषियों ने बताया—"महाराज विशेष अङ्ग वाला बालक माता पिता के लिये अशुभ होता है, उस पर धन ठहर नहीं सकता। अतः आप इस पुत्र का परित्याग कर दें।"

राजा के एक ही पुत्र था, वह भी वृद्धावस्था में हुआ था। ऐसे सुन्दर पुत्र को वे कैसे परित्याग कर सकते थे। उन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और पुत्र का अत्यन्त स्नेह के साथ लालन पालन करने लगे।

सब समय एक सा नहीं रहता। दुख के पश्चात् सुख और

सुख के पश्चात् दुख यह चक्र सदा चलता ही रहता है। न ससार मे कोई सदा सुखी हो सुखी रहा है न दुखी ही दुखी, अब तक जो राजा सभी सुखों का उपभोग करते थे और अपने पुत्र चन्द्रहास को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, उन्ही पर सहसा उनके शत्रु राजा ने चढाई कर दी। युद्ध मे राजा मारे गये। रानी ने पति की मृत्यु का समाचार सुनते ही अपने शरीर का परित्याग कर दिया। अब केवल मातृ पितृ विहीन ३।४ वर्ष का राजकुमार चन्द्रहास ही उस काल मे बच गया। कुमार की धाई कुमार को पुत्र से भी बढकर प्यार करती थी। उसने जब देखा कि कुमार ही रह गया है, यदि यह शत्रु के हाथो पड़ जायगा तो शत्रु इसे भी मार डालेंगे। अत. बडे कोशल से कुमार को छिपाकर वह गुप्त मार्ग से राजधानी के बाहर हो गई। उसने कुमार को फटे पुराने जीर्ण शीर्ण वस्त्र पहिना दिये थे। वह गॉवो मे जाकर भी भीख मॉगती और सब से कहती यह अनाथ बालक है। मैले कुचैले वस्त्रों मे कामदेव के सामन शिशु को देखकर सभी चकित हो जाते। और उसे दयावश कुछ न कुछ दे देते। इस प्रकार वह धाई मॉगती खाती कुन्तल देश मे पहुँची। वहॉके राजा बडे धार्मिक थे। राज्यका समस्त भार अपने प्रधान मन्त्री धृष्टबुद्धि को सौंप रखा था। वैसे धृष्टबुद्धि राज्य काज में तो बड़ा प्रवीण था, किन्तु बडा हठी था। जिस बात को वह निश्चित कर लेता उसे शक्ति भर करके ही छोडता था। राज्य में उसकी बड़ी धाक थी। सभी उसके नाम से डरते थे, राजा तो नाममात्र के राजा थे, वास्तव मे कुन्तल देश का धृष्ट-बुद्धि ही बिना छत्र का राजा था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम मदन था। वह बडा ही सरल तथा साधु स्वभाव का था।

माता पिता का आज्ञाकारी और साधु सेवक था। धाय ने कुन्तल देश में आकर लोगों से कहा—"मुझे कोई नौकर रखलो जिससे मैं अपने इस बच्चे का पालन पोषण कर सकूँ।"

उस बच्चे के ऐसे रूप लावण्य को देखकर नगर निवासियों ने कहा—"माता जी! आप महामंत्री धृष्टबुद्धि जी के समीप जायँ, उनसे आप प्रार्थना करेंगी तो वे आपको अवश्य ही आश्रय देंगे।"

धाई यह सुनकर धृष्टबुद्धि के समीप गई। संयोग की बात कि महामंत्री द्वार पर ही खड़े मिल गये। धाय ने जाकर दीनता भरे स्वर में रोकर कहा—"अन्नदाता! मैं अनाथ निराश्रिता अबला हूँ। विपत्ति में पड़कर इधर से उधर भटक रही हूँ। मेरा यह ३-४ वर्ष का बचा है, इसे लेकर मैं आपकी शरण आई हूँ। मुझे कोई टहल मजदूरी मिल जाय तो मैं इस बच्चे का पालन कर सकूँ।"

उस बच्चे की भोली भाली सूरत देखकर महामन्त्री को दया आ गई और उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तू यहाँ महलों में रहकर जो तुझसे बने काम कर दिया कर, तेरी सभी आवश्यकताओं की यहाँ पूर्ति होगी।"

धाय ने महामन्त्री का जयजयकार किया और वह उनके महलों में रह कर टहल चाकरी करने लगी। चन्द्रहास को आश्रय मिला। वह महामन्त्री के बच्चों के साथ खेलने लगा। वहाँ कोई काम तो था ही नहीं, सुख पूवक दिन कटने लगे।

कहीं भी चले जाओ भाग्य तो साथ ही जाता है। भाग्यवान को सर्वत्र सुख ही सुख मिलता है, किन्तु भाग्यहीन सुमेरु पर भी चला जाय तो वह पत्थर सा दिखाई देने लगता है। चन्द्रहास के दुर्भाग्य का अभी अंत नहीं हुआ था। वर्ष दो वर्ष के पश्चात् उसकी धात्री भी उसे अनाथ बनाकर इस लोकका परित्याग करके परलोकगामिनी हो गई। अब तो चन्द्रहास सभी ओर से आश्रय-हीन हो गया। जब मनुष्य सभी ओर से निराश हो जाता है, तब उसे भगवान् का स्मरण होता है। भगवान् को तो निर्बल के बल, निर्धन के धन और निराश्रय के आश्रय कहा ही गया है। जो सब ओर निराश्रय हो जाता है, अपना पुरुषार्थ खो बैठता है, उसे भगवत् कृपा का अनुभव होता है। चन्द्रहास ने भी देखा संसार में अब मेरा कोई नहीं है। एकमात्र श्रीहरि ही मेरी शरण हैं। यह सोचकर वह आर्त्तस्वर से एकान्त मे रो रो कर भगवान् को पुकारने लगा। संयोग की बात कि उसी समय एक महात्मा वहाँ पधारे। इस बालक की ऐसी निष्ठा देखकर उन्होंने इस पर कृपा की। भगवान् के नाम का उपदेश दिया और श्री शालिग्राम की एक बटिया इसे पूजन करने के लिये दी और कह दिया—"ये भगवान् हैं, सदा इन्हें स्नान करा के चरणामृत लेना और इन्हें भोग लगाकर ही प्रसाद पाना।"

चन्द्रहास को मानो निधि मिल गई। भगवान् शालिग्राम को पाकर वह परम प्रसन्न हुआ। उन्हें वह कहाँ रखता, कोई स्थान उनके लिये नहीं था अतः वह भगवान् के श्री विग्रह को अपने मुख में सदा रखे रहता। प्रातः नदी किनारे चला जाता,

नित्य कर्मों से निवृत्त होकर वह नदी में स्नान करता फिर मुख से भगवान् शालिग्राम को निकालता, स्नान कराता वहीं से शुद्ध मृत्तिका लेकर तिलक लगाता, जंगल से कोई फल फूल मिल जाता तो भगवान् को नैवेद्य चढ़ाता और पूजा करके उन्हें पुनः मुख में धारण कर लेता। प्रेम में भर कर भगवान् के नामों का कीर्तन करता रहता। गद्गद् कण्ठ से प्रभु की स्तुति करता और स्तुति करते- करते उनके ध्यान में तन्मय हो जाता। घर में आकर उसे मन्त्री के यहाँ से जो कुछ भोजन को मिलता पहिले उसे भगवान् का भोग लगता, तब उसे प्रभु का प्रसाद समझ कर प्रेम पूर्वक पाता। इस प्रकार वह निरन्तर भगवान् के ध्यान और भगवत् परिचर्या में निमग्न रहने लगा। महामंत्री धृष्टबुद्धि की एक २-३ वर्ष की छोटी पुत्री थी उसका नाम था विषया। वह बड़ी ही सुन्दरी थी। महामंत्री का उसके ऊपर सहजस्नेह था। एक पुत्री होने के कारण वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते। लड़की बड़ी ही भोली भाली चंचल और होनहार थी। जो भी उसे देखता वही उसे प्रेम से गोद में उठा लेता और प्यार करता। लड़की चन्द्रहास के साथ खेला करती थी। चन्द्रहास की अवस्था ६, ७ वर्ष की थी उस कन्या की अवस्था २-३ वर्ष की थी दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को प्यार करते थे।

एक दिन महामन्त्री के यहाँ कोई पर्व का महोत्सव था। दूर दूर से संत महात्मा और ब्राह्मण उत्सव में पधारे थे। महामन्त्री ने उन सबका सत्कार किया, बड़ी धूम धाम से उत्सव होता रहा। उसी उत्सव में महामंत्री ने अपनी छोटी कन्या को ले जाकर महात्माओं के चरणों में डाला और पूछा—"महात्माओ! मेरी यह प्राणों से भी प्यारी पुत्री है। आप लोग

सर्वज्ञ हैं, यह बतावें इसका भाग्य कैसा है ? इसे अच्छा घर वर तो मिलेगा ?"

महामन्त्री जब महात्माओं से यह पूछ रहे थे, तब चन्द्रहास भी वहीं बैठा था। उन सन्तों में से एक वृद्ध से संत उस बच्ची का हाथ देखने लगे। सहसा उनकी दृष्टि चन्द्रहास के तेजस्वी मुख मंडल पर पडी। उन्होंने बालक चन्द्रहास को अपने समीप बुलाया। उसके सभी अङ्गोंके लक्षण देखकर महामंत्री से बोले—"मन्त्री जी आप बुरा न मानें तो मैं एक बात कहूँ ?"

मन्त्री जी ने बड़े उल्लास के साथ कहा—"नहीं, भगवन् ! बुरा मानने की कौन सी बात है, आप जो कहना चाहें निःसंकोच होकर कहें।"

इस पर वे वृद्ध संत बोले—"देखिये, मन्त्री जी ! यह जो बालक है, बड़ा प्रतापशाली है। भविष्य में यही आपका स्वामी होगा और यही आप की पुत्री का पति भी होगा। अतः आप इसका श्रद्धा और सावधानी के साथ पालन पोषण करें।"

यह सुनकर धृष्टबुद्धि को तो मन ही मन बडा क्रोध आया। उसने सोचा—"यह तो मेरा घोर अपमान है। मैं तो सोच रहा था, अपनी पुत्री का विवाह किसी राजकुमार के साथ करूँगा। मुनि कहते हैं, यह अनाथ दासी पुत्र मेरा जामाता बनेगा और मेरा स्वामी भी। ऐसा मैं कभी न होने दूँगा। यह तो मेरा घोर अपमान है। अब तक जो दास बनकर मेरे टुकडों से पला है, उसे मैं अपनी कन्या कैसे दे सकता हूँ, कैसे इसके पैर पूज सकता हूँ। किस प्रकार इसके अधीन होकर इसकी आज्ञा का पालन कर सकता हूँ। संभव है ऋषियों ने कुछ

सोचा हो। अब तो यह मेरे अधीन है। इसे अभी से क्यों न मरवा दूँ। "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी" मूल के छिन्न होने पर उसक शाखा पत्ता कैसे निकल सकते हैं। जब यह रहेगा ही नहीं तो मेरा जामाता तथा राजा कैसे बन सकेगा।" यह सोचकर उसने अपने भावों को छिपाते हुए कहा—"भगवन्! दैवगति विलक्षण है। पता नहीं क्षण में क्या से क्या हो जाता है। जो होने वाला होगा, वह होगा ही।" यह कह कर वह अपनी पुत्री को गोद में लेकर भीतर चला गया। इधर उत्सव भी समाप्त हो गया। संत महात्मा अपने अपने स्थानों को चले गये।

दूसरे दिन महामन्त्री धृष्टबुद्धि ने वधिकों बुलाकर कहा—"देखो, तुम इस दासी के नीच बच्चे को घोर जंगलमें लेजाओ। वहाँ इसका बध करके नदी में फेंक आना। बड़ी सावधानी से यह कार्य करना किसी को मालूम न होने पावे।"

वधिकों ने हाथ जोड़ कर महामन्त्री की आज्ञा शिरोधार्य की। जब रात्रि हो गई तो उस बच्चे को पकड़कर वे जंगल में ले गये। उजाली रात्रि थी, एक सघनवन में चट्टान के ऊपर वधिकों ने चन्द्रहास को बिठा दिया। उन्होंने चमचमाता हुआ खड्ग निकालकर चन्द्रहास से कहा—"ओ बच्चे! अब तुझे जो करना हो वह कर ले। अब हम तेरा सिर धड़ से पृथक् करते हैं?"

चन्द्रहास ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भाइयो! तुम मुझे क्यों मारना चाहते हो? मैंने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है?"
इस पर एक वधिक बोला—हमारा तो तुमने कुछ भी नहीं

बिगाड़ा है, किन्तु महामन्त्री की ऐसी ही आज्ञा है। हम तो उनके अधीन हैं, हमारा काम ही हत्या करने का है, जिसे मारने की हमे आज्ञा मिलती है उसे मार डालते है।"

इस पर चन्द्रहास ने कहा—"अच्छा भैया! यदि तुम मुझे मारना ही चाहते हो, तो मुहूर्त भर ठहर जाओ मैं अपने भगवान् की पूजा स्तुति कर लूँ, तब तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक मार डालना।"

इस पर एक युवक से वधिक ने कहा—"हम इतनी देर नहीं रुक सकते।"

यह सुनकर उन सबमे जो श्रेष्ठ था, जो सबका चौधरी था वह बोला—"भगवान् की पूजा करना चाहता है, कर लेने दो। हमे और काम ही क्या है।"

चौधरी की बात सुनकर सभी सहमत हो गये। समीप ही एक जल का स्रोत बह रहा था। चन्द्रहास ने स्नान किया। मुख से शालिग्राम निकाले। विधिवत् पूजा की और नेत्र बन्द करके वह अत्यन्त ही करुणाभरी वाणी मे भगवान् की स्तुति करने लगा। वह समझ रहा था यह मेरी अन्तिम स्तुति है, अतः उसका हृदय भर रहा था। इच्छा न होने पर भी दोनो नेत्रों से अश्रुओं की दो धाराये बह रही थीं। गद्‌गद् कण्ठ से वह ममता भरी वाणी मे प्रभु को पुकार रहा था। उसके करुण क्रन्दन और प्रेमोद्रेक के कारण पत्थर भी पिघल गये, वायु की गति रुक गई, प्रकृति स्तब्ध हो गई। वधिकों के मनमें भी दया उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे—"महामन्त्री न जाने क्यों इस फूल से बच्चे का वध कराना चाहते हैं। इसने किसी का क्या अपकार किया होगा। कैसा भोला-भाला बालक है। भगवान् मे

इसका कैसा अनुराग है। कैसी इसकी निर्मल बुद्धि है, भगवान में कैसी इसकी भक्ति है। हम लोग इसे बिना अपराध क्यों मारे ?"

वधिक ये बातें सोच रहे थे कि इतने ही में चन्द्रहास पूजा स्तुति से निवृत्त होकर वधिकों के समीप आया और अपनी भोली भाली सरल वाणी से विनयपूर्वक बोला—"भाइयो ! अब तुम मुझे मार सकते हो ?"

यह सुनकर उसी बूढ़े वधिक ने पूछा—"बेटा ! महामन्त्री का तुमने क्या अपराध किया था। वे तुम्हें क्यों मरवाना चाहते हैं।"

चन्द्रहास ने कहा—"भैया ! मुझे तो पता ही नहीं, वे मुझे क्यों मरवाना चाहते हैं। वे तो सदा मुझे पुत्र की भाँति प्यार करते थे।"

इस पर बुड्ढे वधिक ने कहा—"अच्छा, देखो ! यदि तुम कभी भूलकर भी फिर महामन्त्री के समीप न जाओ तो हम तुम्हें जीवित ही छोड़ देंगे।" बोलो, तुम्हें यह बात स्वीकार है न ?"

चन्द्रहास ने कहा—"मुझे अब उनके समीप जाने की क्या आवश्यकता है ? अब तो मैं एकान्त जंगलों में विचरूँगा और भगवान् का भजन करूँगा।"

चन्द्रहास के सरलता तथा सुकुमारता पर रीझकर वधिकों को उसे मारने का साहस न हुआ। उनके मनमें भी दया का संचार हो गया। चिन्ह ले जाने के लिये उसकी जो एक अधिक उँगली थी वह काट ली। उँगली कटने से बालक अचेत सा हो

गया। उसे उसी अवस्था मे छोड़कर वधिक नगर को चले गये। चन्द्रहास वहीं अचेत बना पड़ा रहा। महामन्त्री के समीप जाकर बधिकों ने निवेदन किया—"महाराज हम आपके आज्ञानुसार उस बच्चे को मार आये हैं, चिन्ह स्वरूप उसकी यह अधिक उँगली ले आये हैं।"

महामन्त्री को यह सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्हे सन्देह के लिये तो कोई स्थान ही नहीं था। वे सोचते थे वधिक मेरी आज्ञा का उल्लघन कर ही नहीं सकते। अतः उन्हे निश्चय हो गया कि मेरा शत्रु मारा गया। उसके वध की बात सुनकर महामन्त्री निश्चिन्त हो गये। जिसकी भगवान् रक्षा करते है, उसे कोई प्रयत्न से रोक नहीं सकता। दैव की गति को कोई पुरुषार्थ द्वारा अन्यथा नहीं कर सकता। चन्द्रहास का अशुभ लक्षण जाता रहा। छटी उँगली कट जाने से उसके भाग्योदय का समय आ गया। वह घोर जगल मे अकेला अचेत अवस्था मे पड़ा था। बहुत से पक्षी अपने पङ्खों को फैलाकर उसको छाया कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से मृगया करते हुए कुलिदनरेश वहाँ आ पहुँचे।

किसी मृग का पीछा करते हुये वे अपने सैनिको और साथियों से बिछुड गये थे। अतः वे अकेले ही थे। घोर जगल मे उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बालक को पक्षियों से घिरा हुआ देखा। पक्षी उसके ऊपर अपने पङ्खों से छाया कर रहे थे। राजा उस बालक के ऐसे तेज को देखकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने सोचा—"बाल्यकाल मे ही जब इसका ऐसा प्रभाव है, तो बड़े होने पर तो न जाने यह क्या करेगा।'

कुलिन्द नरेश कुन्तल नरेश के मण्डलीक करद राजा थे, उनके कोई सन्तान नहीं थी, अरण्य में इस बालक को देखकर उनका चित्त स्वतः ही इसकी ओर आकर्षित हो गया। जब जैसा होना होता है वैसी ही लोगों की बुद्धि हो जाती है। चन्द्रहास का अब अभ्युदय का समय आ गया था। राजा उसे बड़े सत्कार से अपने घर ले गये। रानी इस इतने रूप लावण्य युक्त सुन्दर सुकुमार बच्चे को पाकर परम प्रसन्न हुई और दोनों ने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। समस्त प्रजा में बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया। राजा रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। राजमहल में रहकर चन्द्रहास शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। वह बाल्यकाल से ही साधु सेवक तथा भगवद्भक्त था। अतः सर्वत्र उसकी भक्ति की ख्याति हो गई। चारों दिशाओं से सन्त महात्मा और पण्डितगण आ आकर उसे दर्शन देने लगे। वह भी तन से मन से तथा धन से सबकी यथोचित सेवा करता। फिर क्या था, अब तो सर्वदा साधु सन्तों की भीड़ लगी रहने लगी। सर्वत्र कथा कीर्तन की धूम सी मची रहती। नित्य ही उत्सव सा होता रहता।

कुलिन्द नरेश अपने पुत्र के ऐसे व्यवहार से फूले नहीं समाते थे। जितना ही चन्द्रहास अधिक व्यय करता, उतना ही उन्हें हर्ष होता। इसी कारण कई वर्षों से कुलिंद नरेश के यहाँ से 'राज्यकर' न जा सका।

एक दिन महामन्त्री धृष्टबुद्धि ने राजा से कहा—"प्रभो! हमारे सभी मण्डलीक राजा नियत समय पर कर भेज देते हैं। किन्तु कुलिंद नरेश ने इधर कई वर्षों से वार्षिक कर नहीं भेजा। आज्ञा हो तो उस पर चढ़ाई करके उसे बन्दी बना लाऊँ। मेरी

पुत्री भी अब सयानी हो गई है। उधर से ही मैं उसके लिये कोई वर भी खोज लाऊँगा।

कुन्तल नरेश धर्मात्मा थे, उन्होंने सुन रखा था कि आज कल कुलिंद नरेश बडा दान पुण्य करते हैं, उन्होंने किसी लडके का भी दत्तक पुत्र बना लिया है। अतः वे अपने प्रधान मन्त्री से बोले—"मन्त्रीजी! यदि कोई व्यसन में पडकर राज्यकर न देता, तब तो उसके ऊपर चढाई करना उचित भी था। वह तो साधु सेवा ही करता है। अतः तुम सेना लेकर उसकी राजधानी को घेर लो, केवल डरा धमका कर उससे थोडा बहुत कर ले आओ। उसे कोई क्षति मत पहुँचाना।

हमने सुना है राजा ने कोई पुत्र गोद लिया है, यदि वह योग्य हो, तो उसे युवराज भी बना देना और वह तुम्हारी पुत्री के योग्य वर हो, तो इसका भी ध्यान रखना।"

राजा की ऐसी आज्ञा पाकर धृष्टबुद्धि चतुरंगिणी सेना लेकर सदल बल कुलिंद देश की राजधानी पर चढ गया। उसने राजा के किले को घेर लिया और युद्ध का बाजा बजाया।

कुलिंद नरेश पहिले से ही डरे हुए थे। वे जानते थे धृष्टबुद्धि कितना क्रूर मन्त्री है, यदि यह युद्ध करेगा, तो मैं इससे पार न पा सकूँगा, अतः उन्होंने चन्द्रहास के हाथों बहुत सी भेंट का सामान धृष्टबुद्धि के समीप भेजा और अपने अपराध के लिये क्षमा चाही।"

धृष्टबुद्धि तो यह चाहता ही था, उसे युद्ध करने की तो राजा की ओर से आज्ञा ही नहीं थी। कुलिंद नरेश के इस व्यवहार से वह प्रसन्न हो गया। चन्द्रहास को देखते ही वह

भोचक्का हो गया। उसे बार बार सन्देह होने लगा कि हो न यह लड़का वही है। १० वर्ष में चन्द्रहास १८ वर्ष का यु हो गया था उसकी आकृति बदल गई थी। महामन्त्री ने रा को बुलाया और बड़े स्नेह से कहा—' राजाजी ! मैंने तो वैसे धमकी दी थी। आपने कई वर्षों से कर नहीं भेजा था। अब कोई बात नहीं। अब आप जितना दे सकें कर दे दें। शेष को महाराज से कहकर क्षमा करा दूँगा। आपने यह कुमार कहाँ दत्तक बनाया है ?"

मन्त्री के पूछने पर राजा ने सब समाचार सचसच ब दिया कि इस प्रकार मैं आखेट के लिये गया, वहाँ पक्षि से घिरा मुझे यह बालक मिला। इसकी एक उँगली कटी हु थी, उसमें से रक्त बह रहा था। मैं इसे ले आया। लड़क कुलीन है, होनहार है, मैंने इसे दत्तक बना लिया, अब आप मह राज से कहकर इसे युवराज बनवा दें, जिससे यह राज्य क अधिकारी हो सके।"

धृष्टबुद्धि तो यह सुनकर मन ही मन जल गया। उसकी ईर्ष्या बुद्धि जागृत हो गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया इस दुष्ट को जैसे हो तैसे मरवा देना चाहिये। अब खुलकर कैसे मरवा सकता था। अतः उसने अपने मनोगत भावों को छिपाकर ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—"बहुत अच्छी बात है, बालक बड़ा सुशील योग्य और होनहार है। मैं अपने पुत्र के नाम का एक पत्र देता हूँ, इसे लेकर यह अकेला चला जाय। वहाँ हमारा पुत्र महाराज के सम्मुख इसे उपस्थित करा देगा। महाराज इसे युवराज स्वीकार कर लेंगे और सम्भवतया करद राजा के स्थान में स्वतन्त्र राजा बना देंगे।"

भोले भाले राजा को मन्त्री के कपट का कुछ पता ही नहीं था। उन्होंने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। मन्त्री ने अपने पुत्र के नाम एक गुप्त पत्र लिखा। जिसमें एक ही यह श्लोक था।

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे।
कार्यकार्यं न कर्तव्यं कर्तव्यं किल मे प्रियम् ॥"

इसका अर्थ यह हुआ कि हे पुत्र मदन! इस शत्रु को तू तत्काल विष दे देना। इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना कि इस समय न दें। तुम मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य ही कर देना।"

इस प्रकार पत्र लिखकर उसे लिफाफे में बन्द करके सील मुहर लगाकर उस पर मदन का नाम लिखकर चन्द्रहास को दे दिया और कह दिया, तुम प्रातःकाल उठ कर चले जाना दोपहर तक पहुँच जाओगे। मेरा पुत्र जब तक जाने को न कहे तब तक तुम आना मत वहीं रहना।"

महामंत्री की बात सुनकर राजसीय वस्त्रालंकारों से सजबज कर चन्द्रहास अपने सुन्दर सफेद घोड़े पर चढ़कर कुन्तलपुर को ओर चला। वह एक तो स्वभाव से ही सुन्दर था, फिर आज राजदरबार में जाने के निमित्त उसने सावधानी से श्रृङ्गार किया था। युवावस्था का लावण्य उसके मुख मंडल से फूट-फूट कर निकल रहा था। वह कामदेव के समान लगता था, उसके अंग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य झाँक रहा था। मूर्तिमान सौन्दर्य के समान प्रतीत होता था। चलते चलते उसे दोपहर हो गया। गर्मी के दिन थे। मार्ग श्रमसे वह श्रमित हो गया था, प्यास भी लगी थी, समीप ही उसे एक सुन्दर पुष्पवाटिका दिखाई

दी। स्वच्छ जल से भरी वहाँ एक बावड़ी भी थी। एक बड़े पेड़ की डाल में उसने अपना घोड़ा बाँध दिया। बावड़ी में घुस कर उसने हाथ पैर धोये, पेट भरकर जल पिया और वहीं समीप के वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिये यों ही लेट गया। मार्ग का थका हुआ तो था ही। लेटते ही उसे गहरी निद्रा आ गई और वह सो गया।

वह वाटिका महामंत्री धृष्टबुद्धि की ही थी। संयोग की बात कि उस दिन महामन्त्री की प्यारी विषया सखी सहेलियों के साथ क्रीड़ा करने आई थी। उसकी सखी सहेली तो इधर उधर जल विहार तथा नाना क्रीड़ायें करने लगीं। वह अकेली घूमती घामती वहीं आ पहुँची जहाँ पर चन्द्रहास सो रहा था।

विषया ने १४ वें वर्षों को पार करके १५ वें वर्ष में पदार्पण किया था। यौवन उसके साथ अठखेलियाँ कर रहा था यद्यपि वह उसमें अव्यक्त प्रेरणा के कारण संकेत पर नाचने को विवश थी। उसके अल्हड़पन में मादकता थी, नेत्रों में चंचलता बढ़ गई थी, हृदय किसी के लिये छटपटा रहा था—अन्तःकरण से एक अव्यक्त हूक सी निकलती थी और वह उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिहरन सी उत्पन्न कर देती थी। दूर से ही उसने कामदेव के समान साकार सौन्दर्य स्वरूप उस युवक को वृक्ष की छाया में बिना शैया के भूमि पर पड़े देखा। करुणा, स्नेह, उत्सुकता आदि अनेक भावों के एक साथ उदय हो जाने से बिना सकल्प के ही उसके समीप आ गई।

युवक गहरी नींद में सो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था

मानो पूर्ण चन्द्र मे दो कमल मुँदे हुए हैं। उसके अग प्रत्यङ्ग स सौन्दर्य का किरणे निकल कर उस पुष्प वाटिका का आलोकित कर रहा थीं। युवक को कुछ भी पता नही था कि मेरा सौन्दर्य सुधाको छिपकर कौन निश्चिन्ता क साथ पान कर रहा है। उसके मुख मडल को देखत देखते विपया का दृष्टि उसके मुकुट क पाग के छोर म बँध एक पत्र पर पडी। या ही कुतूहलवश उसने शनै शनै उस पत्र को खोला। देखते ही उस महान् आश्चय हुआ। उस पर ता उसके पिता की अँगूठी का छाप है।

जाने के पूर्व धृष्टबुद्धि अपनी स्त्री से कह रहा था, विपया अब बडी हो गई, इस वर्ष इसका विवाह अवश्य कर देना है। मे कलिंग देश की ओर जा रहा हू, उधर कोई योग्य वर मिल जायगा, तो पक्का कर आऊँगा।" माता पिता मे जब ये बाते हो रही थीं, तब विपया छिपकर उन सब बातो को सुन रही थी। सहसा अपने पिता की छाप देख कर उसे वे सब बातें स्मरण हो आईं। अब तो उसकी उत्सुकता और भी बढी। पिताजा ने मेरे लिये कौन सा वर चुना है। यदि इसे ही पिता जी ने मेरे लिये भेजा हो, तो मेरा जीवन सफल हो जाय। यदि इसके अतिरिक्त किसी क साथ पिताजी ने तै किया हा, तो में अभी हीरा री कनी खा कर यहीं प्राण दे दूँगी।"

यही सब सोचकर उसने शनै शनै उस पत्र के आवरण का खोला। उसमे लिखा था—

विषमस्मै प्रदतव्य त्वचा मदन शत्रवे।
कार्याकार्यं न कर्तव्य कर्तव्य क्लि मे प्रियम्॥

विपया ने एक वार पढा, दो वार पढा, तीन वार पढा।

उसकी समझ म ही न आया कि मेरे पिता इस इतने सुन्दर सुकुमार को विष देने को क्यों कहेंगे। फिर उसने सोचा—'अरे लिखने में भूल हो गई। वे विषयास्मै प्रदातव्य त्वया मनदशत्रवे' यह लिखना चाहते थे। लाओ पिता की भूल को में ही सुधार दूँ। यह सोचकर उसने अपने नख से नेत्रों म लगे काजल से 'म' को 'या' बना दिया और मदन और शत्रवे जो दो पृथक् पृथक् शब्द थे उन्हे एक मे मिलाकर समासान्त पद बना दिया। अब इसका अर्थ हो गया—कि कामदेव को भी अपने सौन्दर्य से तिरस्कृत करने वाले युवक को विषया दे देना। अर्थात् इसके साथ विषया का विवाह कर देना। इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना। मेरी प्रसन्नता के लिये इस काम को शीघ्र ही सम्पन्न कर देना।

इस प्रकार बनाकर पत्र को ज्यों का त्यों चिपका कर उसने युवक की पगडी मे बाँध दिया और वहाँ से चली गई। कुछ काल के पश्चात् युवक की निद्रा भग हुई। वह तुरन्त उठा और घोडे पर चढकर चल दिया। घर तो उसका देखा ही हुआ था। वह जा कर महामत्री के पुत्र मदन से मिला। चन्द्रहास को राजकुमार के वेश मे देखकर मदन को बडी प्रसन्नता हुई। मदन बहुत ही सज्जन और प्रेमी युवक था। अपने पिता के पत्र को पढ़कर उसे अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने तुरन्त अपने पुरोहित को बुलाया और विषया के विवाह का मुहूर्त पूछा।

पुरोहित ने कहा—"कल ही सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त है, आपके पिता की आज्ञा है कि तुरन्त यह मेरा प्रिय कार्य हो जाना चाहिए। अतः विवाह तो कल हो जाय, उत्सव आदि पीछे पिता के आने पर होता रहेगा।"

मदन तो यह चाहते ही थे। उन्होंने तुरन्त सब प्रबन्ध किया। दूसरे दिन विषया का चन्द्रहास के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह हो गया।

इधर मंत्री ने समझा चन्द्रहास मर गया होगा। अतः वह अपनी सेना को साथ लेकर कुन्तलपुरी में लौट आया। ज्यों ही महामंत्री ने नगर के भीतर प्रवेश किया त्यों ही सूत, मागध, वन्दी, भिक्षुक तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसकी जय-जयकार की और पुत्री के सुन्दर वर मिल जाने के उपलक्ष्य में बधाई दी।

धृष्टबुद्धि तो आश्चर्यचकित रह गया। उसकी समझ में ही यह बात न आई कि मेरी पुत्री को वर कब और कैसे मिल गया। उसने अपने कुल पुरोहित से पूछा—"पुरोहितजी! बात क्या है?"

पुरोहित ने कहा—"अन्नदाता! कल भाग्यवती विषया की बड़ी धूम-धाम से पाणिग्रहण संस्कार हो गया। चिरंजीव मदन ने सभी को यथेष्ट दान दक्षिणा दी। सभी उनकी उदारता से परम सन्तुष्ट हुए। यह सब आप के पुण्य का प्रताप है।"

यह सुनकर मंत्री तो किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया। महलों में पहुँचा तो सभी ने उसे प्रणाम किया। चन्द्रहास भी अपनी नववधू विषया के सहित अपने श्वसुर के चरणों में प्रणाम करने दास दासियों से घिरा हुआ आया। धृष्टबुद्धि ने ऊपर मनसे दोनों को आशीर्वाद दिया, किन्तु उसके भीतर ही भीतर प्रबल द्वेषाग्नि धधक रही थी। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया

कि चाहे मेरी पुत्री विधवा भले बन जाय, इस शत्रु का तो मैं अंत करा ही डालूँगा। इसे मैं जीवित छोड़ूँगा नहीं।

यह सोचकर उसने वधिकों बुलाया और कह दिया कि सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि में जो भी भद्रकाली के मन्दिर में पूजन की थाली लेकर आवे उसका सिर धड़ से काटकर तुम लोग चले आना।"

वधिक तो नौकर ही ठहरे, उन्होंने स्वीकार किया। इधर धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास को बुलाकर कहा—"देखो, हमारे यहाँ एक लोकाचार है, विवाह के दूसरे दिन जामाता अकेला जा कर भद्रकाली का विधिवत पूजा करता है। अतः तुम सूर्यास्त के पश्चात् बिना किसी से कहे भद्रकाली के मन्दिर में चले जाना, वहाँ भद्रकाली की पूजा करके कुछ देर स्तुति विनय करके लौट आना। चन्द्रहास के मन में तो छल कपट की बात थी ही नहीं। सूर्यास्त होते ही वह चुपके मंत्री के दिये हुये थाल को लेकर अकेले ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया। भद्रकाली का मन्दिर दूर अरण्य में था। फिर भी मंत्री की आज्ञा से वह पैदल ही जा रहा था।

इधर कुन्तल नरेश से जाकर लोगों ने महामंत्री के भाग्य की बड़ी सराहना की और चन्द्रहास के शील स्वभाव सौन्दर्य और सरलता की राजा से बड़ी भारी प्रशंसा की। राजा के मनमें यह बात आई कि देखो, मंत्री को मैंने अपनी पुत्री के लिए वर खोजने को भेजा था। मेरी लड़की सयानी हो चुकी है। मेरे कोई पुत्र भी नहीं। शीघ्र ही मैं इसका विवाह करके कुछ भगवत् भजन करना चाहता हूँ, मंत्री अभी तक मेरे पास आये नहीं।' सहसा उसी समय चिरजीवी भगवान् लोमश ऋषि वहाँ आ पहुँचे।

मुनि को देखकर महाराज ने उनका श्रद्धा से हुत स्वागत सत्कार किया। शास्त्रीय विधि से पूजा की, दोनों और से कुशल प्रश्न हो जाने पर राजा अपनी पुत्री बुलाकर उससे ऋषि के चरणों में प्रणाम कराया और फिर हाथ जोड़कर कहने लगे—'ब्रह्मन्! मैं बूढ़ा हो गया हूँ। यही पुत्री मेरी एकमात्र सन्तान है। मैं चाहता हूँ कोई योग्य वर मिले, तो उसके साथ इसका विवाह करके राज्यभार उसे सौंपकर मैं भगवान् की आराधना करूँ। आप यह बतावें कि अभी मेरी कितनी आयु शेष है।"

सर्वज्ञ मुनि ने ध्यान लगाकर देखा और फिर कहने लगे—'राजन्! आपकी आयु तो समाप्त हो गई। केवल कल तक ही आयु और शेष है।"

यह सुनकर राजा तो अत्यत घबराये और कर्तव्यविमूढ़ से बने अत्यन्त शोक और दुःख के साथ कहने लगे—'ब्रह्मन्! मैंने तो अभी तक कुछ भी नहीं किया। मेरी इस बच्ची का पीछे कौन विवाह करेगा, कौन इसके लिये योग्य वर खोजेगा? कौन इतने बड़े राज्य को सम्हालेगा। अभी तक मैंने भगवान् का भजन भी नहीं किया संसार से छूटने के लिये कोई साधन भी नहीं किया। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

इस पर लोमश ऋषि ने धैर्य बँधाते हुए कहा—'राजन्! आप चिन्तित न हों, भक्तभयहारी भगवान् वासुदेव सभी का कल्याण करते हैं। उनके बनाये हुए विधान अन्यथा नहीं होते। आपके राज्य का अधिकारी और इस कन्या के सर्वथा अनुरूप वर इस राजधानी में स्वतः ही आ

है। जिस चन्द्रहास के साथ महामन्त्री की कन्या का विवाह हुआ है। वही आपकी कन्या का भावी पति है उसी के साथ आपकी कन्या का विवाह होगा। वही इस राज्यभार को सम्हाल सकता है। वह सर्वथा इसके योग्य है। इसी समय शुभलग्न है आप उसे बुलाकर अभी विवाह करादें। लग्न हाथ से न जाने पावे। राज्याभिषेक प्रातः कर देना।"

यह सुनकर राजा की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा, मन्त्री का पुत्र मदन राजा के समीप ही बैठा था। अभी तक न मदन को पता था, कि मन्त्री लौट आये हैं और न राजा को। अतः राजा ने मदन से कहा—"तुम अभी शीघ्रगामी रथ लेकर चले जाओ और अपने बहनोई को बुला लाओ। तब तक मैं कन्यादान की सब सामग्री एकत्रित कराता हूँ। देखो, सावधान, लग्न न निकलने पावे।"

महाराज की आज्ञा पाकर मदन के हर्ष का तो ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा—'अब तो राज्य हमारे घर में ही आ रहा है।" यही सब सोचकर वह शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर अपने भवन को ओर चला। सयाग की बात, कि उधर से ही पूजन की सामग्री का थाल लिये चन्द्रहास आ रहा था। दूर से ही अपने बहनोई को हाथ में थाल लिये पैदल आते देखकर विस्मय के साथ मदन ने पूछा—"आप कहाँ जा रहे हैं?"

चन्द्रहास ने कहा—"पिताजी, अभी लौटकर आये हैं, उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि हमारे यहाँ यह कुल परम्परा की लौकिक रीति है कि विवाह के अनन्तर भद्रकाली का पूजन किया जाय।" इसीलिये मैं पूजन करने जा रहा हूँ।"

मदन ने हँसते हुए कहा—"बिना ही पूजन के आपका भाग्योदय हो रहा है। महाराज आपको अभी इसी समय बुला रहे हैं, रही पूजन की बात सो, यह तो लौकिक रीति है, आपकी ओर से मैं ही पूजन कर आऊँगा। आप तुरन्त इस रथ पर चढ़कर राजभवन में जायँ। देरी करने का काम नहीं है।" यह कहकर मदन ने चन्द्रहास को तो रथ पर बिठा दिया और स्वयं पूजन की सामग्री लेकर अकेला ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया।

चन्द्रहास रथपर बैठकर राजभवन में गया। राजा द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें पल पल भारी हो रहा था। वे अपनी पुत्री का विवाह अपनी आँखों से देखना चाहते थे। उन्हें भय था महामुनि की बताई लग्न निकलने न पावे। ज्योंही चन्द्रहास ने पहुँचकर राजा के चरणों में प्रणाम किया, त्योंही उन्होंने शीघ्रता से उसे उठाकर अपने हृदय से चिपका लिया। चन्द्रहास के शील स्वभाव, सदाचार, रूप, लावण्य तथा भव्य आकृति को देखकर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। चन्द्रहास ने महामुनि लोमषजी के चरण पकड़े। ब्राह्मणों ने वेदध्वनि की। विवाह के बाजे बजने लगे। पुण्याहवाचन की सुमधुर ध्वनि से राजमहल गूँजने लगा। रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे वर के मुख को देखते देखते अघाती ही नहीं थी। जितनी ही सुन्दरी राजकुमारी थी, उससे भी सुन्दर चन्द्रहास था। दोनों की अनुपम जोड़ी को देखकर माता, पिता, मुनि, परिजन, पुरजन तथा अन्य सभी मन्त्री पुरोहित अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। शास्त्रीय विधि के साथ राजकुमारी का चन्द्रहास के साथ विवाह हो गया। प्रातः मङ्गल कृत्य करके राजा ने चन्द्रहास को अपना मुकुट पहिना दिया और समस्त राज

भार उसे सौंपकर मुनि की आज्ञा लेकर वन को चले गये।

इधर मदन पूजन की सामग्री लेकर ज्योंही भद्रमाल क मन्दिर मे घुसा, त्योंही महामन्त्री के नियुक्त वधिकों ने उसका सिर धड से उतार लिया और उसे वहीं मरा छोडकर चले आये और आकर यह समाचार महामन्त्री को सुना दिया। मन्त्री को पहिली घटना से सन्देह था, कि सम्भव है ये वधिक उसे छोड न आये हों। इस बात की परीक्षा लेने वह अकेला ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चला। वहाँ जाकर जो उसने देखा इससे तो उसका हृदय फटने लगा। उसने देखा उसका प्यारा पुत्र मरा पडा है। इतने मे ही कुछ लोगों ने आकर महामन्त्री का जय जयकार किया और अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अन्नदाता! आप यहाँ अकेले क्यों खडे हैं। महाराज ने तो आपके जामाता के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया है उन्हे राज्यभार सौंप रहे हैं। हम अभी दान दक्षिणा लेकर आ रहे हैं।"

यह सुनकर धृष्टबुद्धि को तो बडी चोट लगी। उसने सोचा—"मेरे जीवन को धिक्कार है, जिसे मैं मारना चाहता था वह राजा बन गया, मेरा प्राणों से प्यारा पुत्र मर गया। अब मैं जीवित रहकर क्या करूँगा।" यह सोचकर उसने लोगों को तो विदा कर दिया। और स्वयं खड्ग से आत्महत्या करके मर गया। पिता पुत्र दोनों के मृतक देह भद्रकाली के आँगन मे पडे थे, किवाडें लगी थीं।

प्रातःकाल जब राजगद्दी का कार्य समाप्त हो गया, तो अपनी नवीन पत्नी को लेकर चन्द्रहास अपने पितृस्थानीय श्वसुर धृष्टबुद्धि को प्रणाम करने गाजे बाजे के साथ महामन्त्री

के भवन की ओर चले। वहा पहुँचकर उसे पता चला न तो धृष्टबुद्धि ही है, और न मदन ही। इतने मे हा बहुत से लोगों ने आकर चन्द्रहास को सूचना दी—'प्रभा! रात्रि म किसी ने महामन्त्री का और मन्त्री पुत्र का हत्या कर दी। दोनों ही भद्रकाली के मन्दिर मे कटे हुए पडे हैं।" इतना सुनते हा चन्द्रहास के दु ख का ठिकाना न रहा वह रोता चिल्लाता भद्रकाली के मन्दिर का ओर चला।

मन्दिर मे पहुँचकर उसने अपने श्वसुर और साले दोनों का मरे हुए देखा। उसने रो रोकर बड़े हा करुण स्वर म भद्रकाली की स्तुति की। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर भद्रकाला प्रकट हुई और बोली—"वत्स! मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त हा सन्तुष्ट हूँ। तुम तो भगवान के भक्त हा। भगवत भक्तों से द्वेष रखने वाले का कभी कल्याण नहीं हाता। यह धृष्टबुद्ध तुमसे हृदय स द्वेष करता था, इससे यह स्वय ही मारा गया। यद्यपि मदन तुमसे द्वेष नहीं करता था, फिर भी शत्रु का पुत्र हाने से वह भी मारा गया। अब तुम मुझसे जो भी माँगना चाहो वह माँग लो।"

भद्रकाला की बात सुनकर चन्द्रहास ने कहा—"माताजा! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और वर देना ही चाहती हैं ता मे आपसे यहा माँगता हूँ, कि मेर श्वसुर साले जीवित हो जायँ और मेरे श्वसुर का अन्त करण शुद्ध हो जाय उनके मनसे द्वेष के भाव नष्ट हो जायँ।"

चन्द्रहास के ऐसे निष्कपट भाव को देखकर भद्रकाली और भी अधिक सन्तुष्ट हुई। तुरन्त ही दोनों का सिर धड से जुट

गया और वे इस प्रकार उठकर खड़े हो गये जैसे निद्रित पुरुष निद्रा के भंग होने से उठकर खड़ा हो जाता है। धृष्टबुद्धि का अन्तःकरण पवित्र हो गया था, उसने जब सामने चन्द्रहास को खड़े देखा तो दौड़कर उसे छाती से चिपटा लिया। दहाड़ मारकर वह रोने लगा। रोते रोते उसने अपने अश्रुओं से चन्द्रहास के राज्याभिषेक के अभिमन्त्रित जल से भीगे हुए बालों को और भी अधिक गीला कर दिया। उसे अश्रुओं से न्हिला दिया। आज श्वसुर दामाद प्रेमपूर्वक मिले। मदन से भी श्रद्धा सहित चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। प्रजा के लोगों ने चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। सबने एक स्वर मे उसे अपना सम्राट् मान लिया। समाचार सुनते ही कुलिन्द देश के राजा रानी दौड़े आये। अपने पुत्र को राज्यसिहासन पर बैठे देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। धृष्टबुद्धि भी अपने जामाता को आशीर्वाद देकर मन्त्री पद त्यागकर तपस्या करने वन मे चला गया। उनके स्थान पर मदन महामन्त्री हुए। दोनों ही साले बहनोई मिलकर धर्मपूर्वक कुलिद और कुन्तल देशों का पालन करने लगे। इसीलिये किसी ने सच कहा है—

> जिन पॉइन पनहीं नहीं, उन्हे देत गजराज।
> विप देते विपया मिली, राम गरीबनिवाज॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपके पूछने पर मैंने यह चन्द्रहास की मनोहर कथा सुनाई। देखिये, धृष्टबुद्धि ने उसे मारने के कितने कितने उपाय किये, किन्तु उसकी मृत्यु नहीं थी इसलिये उसे कोई भी मार नहीं सका। जो गर्भ को ऐसी कोठरी में जहाँ न शुद्ध वायु जा सकती है न अन्न जल। वहाँ भी जो बालक की रक्षा करता है, तो फिर संसार में जब

चक्षुओं के रहते हुए रक्षा क्यों न करेंगे। जिसकी जितनी आयु होती है, उतनी उसे भोगनी ही पड़ती है। जब जिसकी मृत्यु आ जाती है, फिर उसे कौन बचा सकता है। सुयज्ञ की पत्नियों से बालक वेषधारी यमराज कह रहे हैं—"हे राज पत्नियो! तुम इस मृतक सुयज्ञ के लिये सोच मत करो। उसकी इतनी ही आयु थी। अब यह जीवित नहीं हो सकता।"

इस दृष्टान्त को देकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई की पत्नी और भतीजों को समझा रहा है, कि दैव की गति समझ कर तुम लोगों को हिरण्याक्ष के लिये शोक न करना चाहिए।

छप्पय

मारन चाह्यो धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास कूँ।
बधिकनि सौंप्यो विविधि करे उद्योग नाशकूँ॥
किन्तु मृत्यु नहिँ भई राजद्वै देशनि पायो।
द्वै द्वै रानी मिलीं श्वसुरहू मृतक जिवायो॥
विष बदले विषया मिली, भिक्षुक तें राजा भयो।
भयो भाग्य अनुकूल जब, तब तस बानिक बनि गयो॥

दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है

(४५३)

पथि च्युत तिष्ठति दिष्टरक्षितम्,
गृहे स्थितं तद् विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने,
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

पुरुष भलो नहिँ होहि दैव इ भलो कहावे ।
जैसो होनो होइ दैव तस बुद्धि बनावे ॥
नष्ट होन को समय जासु को अनई नाईं ॥
अति करत पुरुषार्थ सके नहिँ लोग नसाईं ।
गिरी गैल म वस्तु हू, ज्यों की त्यों रहि जायगी ।
नष्ट होन को यदि समय, तो घर महँ नसि जायगी ॥

भगवान् का अमोघ संकल्प कहा गया है। मनुष्य बहुत सी इच्छाये करता है, उनमे से कुछ पूरी हो जाती हैं, कुछ पूरी

---

* बालक सिद्धान्त की बात कह रहा है—"देखो यदि दैव द्वारा कोई वस्तु रक्षित है, तो उसे मार्ग म डाल दो ज्यो की त्यो पड़ी रहे और यदि उसक नाश का समय आ गया है, तो घर मे भी कितनी भी

नहीं भी होतीं, किन्तु भगवान की इच्छा और पूर्ति दो वस्तु नहीं। उनकी जो इच्छा हुई उसे पूरी ही समझो। इस सम्पूर्ण जगत की रचना प्रभु खेल खेल में इच्छा मात्र से ही करते हैं। इसमें उन्हें न कुछ श्रम है न आयास। यह चराचर विश्व प्रभु की इच्छा के ही ऊपर अवलम्बित है। जैसे वाटिका के चतुर माली की सभी वृक्षों पर दृष्टि रहती है। कौन कितना बढ़ रहा है, किसकी कब कलम करनी होगी, कब किसे कहाँ से उठाकर कहाँ रखना होगा। कब किसमें खाद देनी होगी, कब पानी से सींचना होगा। वह सबका बड़ी सावधानी से पालन पोषण करता है। उसमें भूल नहीं होने देता। माली के काम में चाहे भूल हो भी जाय, किन्तु भगवान के कामों में कभी भूल नहीं होती। उनका यह अखण्ड क्रीडामय व्यापार निरन्तर प्रवाह रूप से चलता रहता है। इसका आदि नहीं अन्त नहीं। आदि काल से यह इसी प्रकार व्यवस्थित रूप से चल रहा है। जो इस व्यवस्था के रहस्य को समझ जाते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं उन्हें किसी भी घटना से हर्ष विस्मय नहीं होता। वे समझते है यह घटना तो होनी ही थी, क्योंकि प्रभु इच्छा बिना कोई घटना घटित नहीं होती। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे सबको नूतन

सुरक्षा से रखो वहाँ भी वह हो जायगी। भगवान् की जिन पर दया दृष्टि है अर्थात् जिनका काल नहीं आया है उसे चाहे वन में अनाथ करके छोड़ दो, वहाँ भी जीवित रहेगा। यदि उसका काल आ गया है, तो घर में कितनी भी सावधानी से रखो, वहाँ भी मर जायगा।

और अकस्मात् हुई घटना समझकर कभी रोते हैं कभी हँसते हैं, कभी सुखी होते हैं, कभी दुखी होते हैं। यही अज्ञान है यही मूर्खता है।

बालक उन सुयज्ञ की रानियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, अबलाओ। तुम रोओ मत। सबके रक्षक वे श्रीहरि ही हैं। अब यह मृतक शरीर तुम्हारी क्या रक्षा कर सकेगा। वे अच्युत अज अविनाशी श्रीहरि अपनी इच्छा मात्र से ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करते हैं। स्वयं ही रचकर इसका पालन भी करते हैं और जब इच्छा होती है, तब "मनुआ मरि गयो, खेल बिखर गयो, कह कह कर इसका संहार भी करते हैं। यह चराचर विश्व उनका खिलौना है। उनके मनोरंजन का, खेलने का एक साधनमात्र है। जैसे बच्चा गेंद को जब चाहे बना सकता है, जब चाहे फाड़ फूड कर फेंक सकता है, बनाने और नाश करने में जैसे बालक स्वतंत्र है वैसे श्री हरि इसके उत्पत्ति, पालन और संहार में सर्वथा स्वतन्त्र हैं सर्व प्रकार से समर्थ हैं।

इस पर राजा के पुरोहित ने पूछा—"बच्चे! तुम तो बड़ी बड़ी ज्ञान की बातें कह रहे हो। यह बताओ कि कोई अपने पुरुषार्थ से किसी की मृत्यु को नहीं टाल सकता? किसी नष्ट होने वाली वस्तु को नहीं बचा सकता।"

इसपर बालक ने कहा—"पुरोहित जी! पुरुषार्थ वहीं काम

देता है, जहाँ प्रारब्ध अनुकूल होता है। जिस काम में दैव विपरीत है, वहाँ पुरुषार्थ विफल हो जाता है। फिर भी पुरुषार्थ तो निरन्तर करते ही रहना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ करने से ही प्रारब्ध का पता चलता है, कि यह वस्तु हमारे भाग्य में है या नहीं। महाराज सब वस्तुओं की अवधि बनी होती है। जितने दिन जिस वस्तु की अवधि है, उतने दिनों तक उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। चाहे उसे चौराहे पर डाल दो, पैरों से कुचल दो। वहाँ भी वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसके विपरीत जिसके नष्ट होने का समय आ गया है उसे ७ तालों के भीतर बन्द करके रख दो, तो भी वह वहाँ नष्ट हो जायगी। जिसका जीवन शेष है, उसे चाहे सिंह व्याघ्रों में जाकर छोड़दो वहाँ भी वह जीवित रहेगा। जिसका जीवन शेष नहीं, उसे चाहे सात ड्योढ़ियों में सुरक्षित रखकर पुष्पों की शैया पर सुला दो वहीं वह मर जायगा। देखो! अकृतव्रणजी की भगवान् ने कैसे रक्षा की।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, अकृतव्रण जी की किस विपत्ति से भगवान् ने कैसे रक्षा की इस कथा को आप उचित समझें तो हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूत जी बोले—"मुनियों! यह अद्भुत पौराणिक आख्यान है। यह त्रेता युग की बात है, उन दिनों प्रायः सभी ब्राह्मण अपने स्वधर्म में निरत रह कर तप स्वाध्याय में

संलग्न रहते थे। उन्हीं दिनों एक बड़े सुशील, शान्त दान्त मु एक अरण्य में अपनी स्त्री के सहित पर्णकुटी में तपस्या कर थे। उनके एक बड़ा सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसे सुन्दर पु का मुख देखकर मुनि दम्पति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा एक दिन सायंकाल के समय मुनि सन्ध्या मे निरत थे, मुनि पत्नी नदी तीर जल लेने गई थीं। इतने में ही एक भेड़िय आया। वह बच्चे को उठा कर ले गया। मुनि ने जब देखा त बहुत उसके पीछे दौड़े, किन्तु उनका परिश्रम सब व्यर्थ हुआ भेड़िया उस अबोध बालक को लेकर भाग गया। उस बालक की अभी मृत्यु नहीं थी। अतः भेड़िया के मन में कुछ दया आ गई। उसने लेजाकर अपनी पत्नी को उस बालक को दिया। वह उसे अपनी गुफा मे रखकर उससे खेलने लगी। अपने पुत्रों के साथ पुत्रवत् उसे भी प्यार करने लगी। भेड़िया जो जानवरों को मारकर लाता उसका मांस उस बच्चे को खिलाता। अब ता बच्चा उसके सभी बच्चों मे हिलमिल गया। हाथ पैर से भेड़िया के बच्चों की भाँति चलने लगा। और भेड़िया की सी ही भाषा बोलने लगा।

एक दिन भगवान् परशुराम जी उधर से जा रहे थे। उन्होंने जब एक मनुष्य बालक को भेड़िया के बच्चों के साथ पशुओं की भाति चलते और उनका सा ही आचरण व्यवहार करते देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। आगे बढ़कर उन्होंने

इस बच्चे को पकड़ लिया जिन्होंने २१ बार अपने एक ही

फरसे से समस्त भूमंडल के क्षत्रियों का संहार कर दिया।
उनके सम्मुख भेड़िये क्या ठहर सकते हैं। भेड़िये डरकर भ
गये। मुनि इस बच्चे को लेकर अपने आश्रम पर चले आये

भगवान् परशुराम जी ने देखा, बच्चा इतने दिन भेड़ियों
रहा, किन्तु उन्होंने इसके अंगमें एक भी व्रण (घाव) आदि नह
किया। इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। इसीलिए उसक
नाम। "अकृतव्रण" रख दिया।

ये महात्मा अकृतव्रण बड़े ही तेजस्वी तपस्वी और भगवान
परशुराम जी के एकनिष्ठ अनुयायी रहे हैं। जब भगवान् परशु
राम जी ने भीष्म पितामह से युद्ध किया था, तब उनके रथ को वे
ही हाँकते थे।

सूतजी कहते हैं—"महाराज, अकृतव्रण की आयु शेष थी,
अतः भेड़ियों में रहकर भी बचे रहे। इसके विपरीत चित्रकेतु के
पुत्र की आयु शेष नहीं थी। कितना प्रयत्न करने पर भी मर
गया। अर्जुन ने अभिमन्यु के मारे जाने पर प्रतिज्ञा की थी, कि
यदि सूर्यास्त तक आज मैं जयद्रथ को न मार डालूँगा, तो
स्वयं अग्नि में भस्म हो जाऊँगा। इधर द्रोणाचार्य तथा दुर्यो-
धन की ११ अक्षौहिणी सेना ने प्रतिज्ञा की थी, कि हम जैसे
तैसे आज जयद्रथ को बचावेंगे।" मुनियो ! आप ही सोचें।
११ अक्षौहिणी सेना में आधे दिन तक एक व्यक्ति को छिपाये
रखना कौन सी बड़ी बात है। बड़े बड़े महारथियों ने अनेकों

भाँति के व्यूह बनाकर उसके मध्य में जयद्रथ को छिपा दिया था। किन्तु उसका काल आगया था। काल के भी नियन्ता कृष्ण के मन में सूर्यास्त से पूर्व ही उसे परलोक पहुँचाने का विचार हो गया था, वह सूर्यास्त से पूर्व अर्जुन के बाणों द्वारा मारा गया।

एक नहीं ऐसे हजारों लाखों, असंख्यों दृष्टान्त हैं, कि अनेकों असुरों ने अमर होने के भाँति २ के वरदान माँगे। वे संसार में अपने को सब से अधिक बली, महान् पराक्रमी समझते थे, वे भी समय आने पर साधारण लोगों के हाथों मारे गये। इन सब बातों को देखकर यही सिद्धान्त स्थिर होता है, कि जब तक मृत्यु नहीं है, तब तक कोई किसी उपाय से भी किसी को मार नहीं सकता और जिसकी मृत्यु आगई है, उसकी कोई किसी भी उपाय से रक्षा नहीं कर सकता।

वह ज्ञानी बालक महाराज सुयज्ञ की रानियों तथा सम्बन्धियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, रानियों! इन राजर्षि का काल आ गया था, तभी तो ये शत्रु के हाथों मारे गये, नहीं तो ये तो समर मे सदा विजय लाभ ही किया करते थे। समय सब कुछ करा लेता है इसलिये तुम लोग सोच करना छोड़ दो इन राजर्षि की और्ध्वदैहिक क्रिया होने दो इनके मृत शरीर के साथ मोह करने से व्यर्थ मे शोक करने से क्या लाभ ?"

नारदजी कहते हैं—"महाराज ! इस प्रकार हिरण्यकशिपु अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों को समझाते हुए सुयज्ञ का कथा सुना रहे हैं।" हिरण्यकशिपु ने कहा—"सुयज्ञ के सम्बन्धियों को उस ज्ञानी बालक ने और भी शोक शान्ति का बातें कहीं, उन्हे भी आप सब लोग एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

व्याघ्र पकरि ले गयो हतो इक मुनि सुत ताकूँ ।
आयु शेष कछु हती पुत्रवत पाल्यो ताकूँ ॥
व्याघ्रनि महँ ई रहे संग उनके वन जावे ।
हाथ पैर तें चले मांस तिनिके सङ्ग खावे ॥
परशुराम नर शिशु निरखि, आश्रमकूँ संग ले गये ।
पाल्यो पुनि सुत के सरिस, अवृतव्रण मुनि ते भये ॥

आत्मा से शरीर भिन्न है

(४५४)

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते,
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते,
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० २ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

आत्मा है निर्लेप रहै नित पृथक् देहते ।
जैसे गेही रहै भिन्न हो सदा गेहते ॥
जल महँ बुद् बुद् होहिँ नहीं ते जल कहलावें ।
कनक एक रस रहै हार कंकण मिटि जावें ॥
अनल काठते अलग है, वायु देह तें पृथक् ज्यों ।
है असँग नभ सर्वगत आत्मा, हू निर्लेप त्यों ॥

जैसे पद्मपत्र सरोवर में ही रहता है, किन्तु उसमें लिप्त
होता। इसी प्रकार आत्मा शरीर में स्थित है, किन्तु शरीर

---

* सुयज्ञ के सम्बन्धियों को यम समझा रहे हैं—"जैसे अग्नि काष्ठ में व्याप्त होने पर भी उससे पृथक है। वायु देह में रहने पर भी देह से पृथक् है। आकाश जैसे सर्वत्र व्याप्त होने पर भी निर्लिप्त है, उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण देहादि में रह कर भी उनसे भिन्न है।"

के सुख दुःख, वृद्धि क्षय, हानि लाभ, चिन्ता शोक तथा जन्म मरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग देह और आत्मा में भेद भाव नहीं करते। दोनों को एक ही समझते हैं शरीर को ही आत्मा मानकर निरन्तर उसके पालन पोषण में व्यग्र बने रहते हैं, वे ही अज्ञानी कहलाते हैं। जब मनुष्य को यह बोध हो जाय, कि आत्मा का देह के सुख दुःखों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा तो नित्य शाश्वत द्वन्द्वों से पृथक् तथा असंग है। ऐसा जिसे ज्ञान हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। ब्रह्मज्ञानी को हर्ष शोक नहीं होते। एकत्व भावना के कारण वह शोक मोह से सर्वदा रहित बना रहता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता को सम्बोधन करके सबको समझा रहा है—"माँ! वह ज्ञानी बालक सुयज्ञ की पत्नियों को ज्ञानोपदेश करते हुए बोला—"हे रानियो! आप विचार करें, कि आप किसके लिए रुदन कर रही हैं?"

एक रानी ने रोते-रोते कहा—"हमारे पति परलोक प्रयाण कर गये हैं, उनके वियोग में दुःख होना स्वाभाविक ही है और दुःख में रुदन प्रायः करते ही हैं।"

उस बालक ने कहा—"यही तो मैं पूछ रहा हूँ, कि तुम्हारा पति कौन है? एक तो देह है एक जीवात्मा है। यदि तुम देह के लिए रुदन कर रही हो, तो देह तो तुम्हारे सामने ही पड़ी है। तुम कह सकती हो, कि यह तो मृतक शरीर है। इसमें से जीवात्मा तो निकल गया।" तो जीवात्मा तो कभी मरता नहीं। जैसे हम एक वस्त्र का त्याग कर दूसरा वस्त्र धारण कर लेते हैं वैसे ही जीवात्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है। यह शरीर पंच भूतों का बना हुआ है यह अपने

कारण रूप लिङ्ग देह के धर्म अधर्म, पाप पुण्य आदि कर्मों के अनुसार समय समय पर भिन्न-भिन्न योनिया में भिन्न-भिन्न देशों मे जन्मता और मरता रहता है। किन्तु शरीर को जनम मरण क्रिया के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नही। यद्यपि जीवात्मा शरीरों मे ही स्थित है, किन्तु शरीर के उत्पन्न होने और नष्ट होने के साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं।

इस पर बूढ़े मत्री ने पूछा—"वालक ! तुम ब्रह्मज्ञानी मालूम पडते हो। अच्छा, यह बताओ जब आत्मा का शरीर के सुख, दुख, जन्म, मरण आदि से कोई सम्बन्ध नही, तो फिर पुरुष इस शरीर को अपना समझकर इसमे इतना ममत्व क्यो करता है ?"

वालक ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"मत्री जी ! इस ममत्व का कारण है माया मोह। देखिये, अपने गॉव से बहुत दूर एक तालाव है, वहॉ की मिट्टी मे ईंटे वनीं। किसी के पास एक लाख रुपया था। कल तक वह उन्हे मेरा कहता था। किसी कारण से वे रुपये हमारे पास आगये अब उन रुपयो में हमारा ममत्व हो गया। उन रुपयो को हम अपने रुपये कहने लगे। जब ईंटे पककर तैयार हो गईं, तो उन रुपयों मे से कुछ रुपये देकर हम ईंटे मोल ले आये। अव जो रुपये दे दिया उन में से तो ममत्व-मेरापन छूट गया, किन्तु सिक्कों के स्थान मे उन मिट्टी की ईंटों मे ममत्व आ गया। कुछ रुपये देकर लाहा लकडी ले आये कुछ रुपये से चूना कलई ले आये। एक भवन तैयार हो गया। उसमे लगने वाली ईंटो से, लोहा लक्कड, चूना, बालू, कलई किसी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु जब

घर वन गया, तो हम बडे अभिमान से कहते हैं—"मेरा घर है मेरा भवन है, मैं इसका स्वामी हूँ।" हमसे कोई पूछे—"क्यों जी, इसमें तुम्हारा क्या लगा है, किस शरीर के अग को काटकर तुमने इसे बनाया है।" तो उत्तर मे यही कहना पड़ेगा, कि हमारा इसमें कोई वस्तु नहीं लगी। केवल अपनापन है। कुछ काल में हम दिवालिया हो गये। घर बिक गया। तो घर के साथ हम तो बिके नहीं। जैसे घर बनने के पहिले थे, वैसे ही अब हैं। मकान भी ज्यों का त्यों खड़ा है। किन्तु उसमें से हमारा ममत्व निकल गया। मेरापन मिट गया। जैसे गृह का स्वामी गृह से पृथक् है वैसे ही आत्मा भी देह से सर्वथा पृथक् है अज्ञान वश जीव इस देह को ही आत्मा मान बैठे हैं।

जल से लहर उत्पन्न होती है, बुद्बुद् उत्पन्न होते हैं, तो वे सब जल तो नहीं कहलाते। जल के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं जल तो ज्यों का त्यों निर्मल बना रहता है उसी प्रकार देह के सयोग वियोग से, जनम मरण से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। इसे ध्यानपूर्वक समझो। मिट्टी से घड़े बने, सकोरे बने, नाद बनी और न जाने क्या क्या बने। चीनी से घोड़े बने, हाथी बने, ऊँट बने, बछेड़े बने, लाख से चूड़ियाँ बनीं भाँति २ की आकृतियाँ बनीं कनक से कुंडल बने, कर्णफूल बने, कङ्कण बने, करधनी। चाँदी से कड़े बने, छड़े बने, बाजू बन्द बने। बनने के पूर्व भी मिट्टी, चीनी सोना, चाँदी और लाख अपने स्वरूप मे थे। जब बन गये तो केवल नाम और आकृति को छोड़कर ज्यों के त्यों बने रहे। सकोरे मे, घड़े मे, नाद में, मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चीनी के चाहे घोड़े को ले लो या हाथी को, चीनी को छोड़कर उसमें

कुछ नहीं। हाथी घोड़ा बनने के पूर्व भी चीनी थी, बन जाने पर भी चीनी ही रहा। फूट जाने पर भी ज्यों की त्यों चीनी ही है। जिस प्रकार नाम और आकृतियों के कारण चीनी आदि में कुछ भी परिवर्तन नहीं। उसी प्रकार नाना देह धारण करने पर भी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसकी निःसङ्गता नित्यता नष्ट नहीं होती।"

इस पर पुरोहित ने पूछा—"भैया, आत्मा शरीर में रह कर उससे पृथक् कैसे रहता है।

बालक बोला—"देखिये महाराज, दो काठों के मन्थन करने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि काष्ठ में अग्नि पहले से ही विद्यमान थी। रगड होने से वह प्रकट हो गई। फिर भी काष्ठ को अग्नि तो कोई कहता नहीं। अग्नि तो काष्ठ से पृथक् ही है। वायु शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है। वायु के बिना शरीर की सत्ता नहीं। फिर भी वायु देह नहीं है। देह से वायु पृथक् ही है। इसी प्रकार आकाश सर्वगत है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ आकाश न हो। व्यवहार में कहते है यह घड़े का आकाश है, यह भवन का आकाश है। यह देह से छिद्रों का आकाश है। अनेक प्रकार के भेद होने पर भी आकाश में स्वयं कोई भेद नहीं वह सदा सबसे असङ्ग रहता है। उसी प्रकार आत्मा के बिना शरीरों की सत्ता स्थिति नहीं। फिर भी आत्मा शरीर नहीं। शरीर से पृथक् निर्लेप और स्वतन्त्र है। देह के लिए यदि तुम रोती हो, तो देह तुम्हारे सम्मुख है। आत्मा के लिये सोच कर रही हो, तो आत्मा मर तो जाती नहीं उसके लिए सोच करना व्यर्थ है। आत्मा किसी को दिखाई भी नहीं देता।"

इस पर रानियों ने कहा—"आत्मा दिखाई न देता हो, किन्तु जिससे यह शरीर जीवित बना हुआ था, वह प्राण तो इस शरीर में दीखता था। उस प्राण के बिना ही ये निष्प्राण पड़े हुए हैं। हमारा शोक उसी के लिये है।"

यह सुनकर बालक बोले—"प्राण तो बोलता सुनता नहीं। यद्यपि यह महाप्राण इन सभी इन्द्रियों मे प्रधान है फिर भी प्राण आत्मा तो है नहीं। इस शरीर का आश्रय तो प्राण है प्राण भी जिसकी प्रेरणा से चलते हैं वह आत्मा तो देह, मन, बुद्धि तथा प्रान इन सभी से पृथक् है।"

आत्मा यद्यपि सर्वगत है देहादि से भिन्न है, फिर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, कान, नाक, मुख, आँख, रसना, वाक् प्राणि, पाद, शिश्न, गुदा और मन आदि लिंगो से प्रतीत होने वाले उत्तम अथवा अधम, ऊँच अथवा नीच योनियो को अपने तेज से अपने से साक्षीपने समय पर धारण करता है और काल आने पर त्याग देता है।

यह सुनकर पुरोहित ने पूछा—"फिर आत्मा को कर्मानुसार उत्तम अधम योनियों में जन्म क्यों धारण करना पड़ता है ? क्यों सुख दुख, नरक स्वर्ग आदि भोगने पड़ते हैं।

यह सुनकर बालक ने कहा—"आत्मा जब तक लिंग सरीर से संयुक्त सा रहता है। तभी तक उसे कर्म बन्धन लगने से प्रतीत होते हैं। इसीलिये उसे शोक मोह और नाना क्लेश पुनः २ प्राप्त होते हैं ! वास्तव में आत्मा में तो ये सब होते नहीं माया के कारण ही ऐसी विपरीत भावना होती है। ये जो सुख दुख हैं ये सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम

है, यह सत्य नहीं मिथ्याभिनिवेश है।

पुरोहित ने पूछा—"भैया, यह बात तो उलटी सी है। जो वस्तु है ही नहीं उसमे मिथ्याभिनवेश कैसे हो जायगा ?

बालक बोला—"अच्छा सुनिये, इस विषय मे हम एक दृष्टान्त देते हैं। एक कोई पढ़े लिखे शिष्टपुरुष बाजार से कुछ मिट्टी के चिकने घड़े मे तेल क्रय करके घर ला रहे थे। शिष्टपुरुष तेल के भारको स्वय लेकर कैसे आवे। लोग हँसी उडावेगे। उनकी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध बात थी। एक निर्धन व्यक्ति से उन्होने कहा—"भाई, तुम इसे हमारे घर तक पहुँचा दो हम तुम्हे आठ आने देगे।

उसने कहा—"श्रीमान् ! मैं तो बारह आने लूँगा।" अन्ततोगत्वा दस आने मे बात तै हो गई। वह नौकर उनके तेल के घडे को लेकर चला। घर दूर था। इसलिये मार्ग मे वह सोचने लगा आज मुझे दस आने मिलेगे, तो मैं क्या करूँगा ? उसने सोचा उस बाग मे जाऊँगा। उस बाग के आम बहुत कम मूल्य पर मिलते हैं। वहाँ का माली भी मेरा परिचित है। दस आने के आम लाऊँगा। बाजार मे आते ही वे सवा रुपये मे अवश्य बिक जायेगे। दूसरे दिन सवाके लाऊँगा तो वे ढाई रुपये मे बिक जायँगे। आठ आने अपने भोजनादि को रख कर तीसरे दिन २) के लाऊँगा तो ४) मे बिक जायँगे। फिर ४) के लाऊँगा ८) में बिक जायँगे। उनमें से ६) की एक बकरी ले लूँगा। २) के आम लाऊँगा उसके चार हो जायँगे। इधर रुपये बढेगे। उधर बकरी २-३ बच्चे देगी। दूध को

बेच दूँगा और बकरियों को रख लूँगा। जब ४ बकरियाँ हो जायँगी तो उन्हें २) में बेचकर एक गौ ले लूँगा। गौ प्रतिवर्ष एक बच्चा देगी। दूध होगा। दो बच्चों को बेचकर एक भैंस भी ले लूँगा। १०-१५ सेर नित्य दूध होगा। साल भर में ५००) का दूध बिक जायगा। तो फिर विवाह कर लूँगा। घर में छम्म छम्म करती हुई बहू आ जायगी। उसको दूध बेचकर सोने चाँदी के आभूषण बनवाऊँगा। पचरंगी चुनरी और ८ गज का बड़ा सा लहँगा बनवाऊँगा। सब लोग मुझे चौधरी कहेंगे। उसे चौधरानी। फिर मैं एक बड़ी सी चौपाल बनवाऊँगा। ५-७ बच्चे हो जायँगे। जब वे बड़े होंगे तो उनका विवाह करूँगा। गुड़िया सी छोटी-छोटी कई बहुएँ आवेंगी। मुझे देखते ही घूँघट मार लिया करेंगी। मैं घर में जाया करूँगा तो खाँस खखार कर जाया करूँगा, जिससे वह घूँघट मार ले। फिर मैं कुछ काम धन्धा न किया करूँगा। चौपाल पर अपने मचपर बैठा हुक्का पीया करूँगा। मेरे लड़कों के भी लड़का हो जायँगे। तब वे मुझसे आकर कहा करेंगे—"बाबा चलो भोजन कर आओ। दादी बुला रही हैं।" तब मैं बड़े गर्व से यों सिर हिला दिया करूँगा।"

बालक कह रहा है—"पुरोहितजी, इन बातों के सोचते-सोचते वह ऐसा तन्मय हो गया, कि इस बात को सर्वथा भूल ही गया कि मेरे सिर पर तेल का घड़ा रखा है। ज्यों सिर हिलाया कि सिर का घड़ा पृथिवी पर गिरकर फटसे फूट गया। सब तेल बिखर गये।"

इस पर वे शिष्ट सज्जन बड़े क्रुद्ध हुए और अत्यन्त क्रोध

प्रकट करते हुए बोले—"तुम बड़े मूर्ख हो जी ४) की मेरी हानि कर दी। सब तेल फैला दिया।"

इस पर उसने रोते २ कहा—"श्रीमान्! आपकी तो चार रुपये की ही हानि हुई। मेरी तो बनी बनाइ गृहस्थी बिगड़ गई।" यह कहकर वह फूट फूटकर रोने लगा। स्त्री बच्चों की याद करके उसे अत्यंत दुःख हुआ।

ज्ञानी बालक कह रहा है—"देखिए. उस तेल ढोने वाले का विवाह भी नहीं हुआ था, फिर बच्चों की तो कथा ही क्या, किन्तु मनोरथ द्वारा उसने पूरी गृहस्थी बना ली और उसके विफल होने पर रोने लगा। यही है असत् में सत् का मिथ्याभिनिवेश! हम सो रहे है। स्वप्न देखते है हम राजा बन गए हाथी पर चढ़कर जा रहे हैं। छत्र लगा है, चॅवर ढुल रहे हैं। आँख खुल गई, न हाथी, न छत्र न चॅवर। वही टूटी पाटी की पुरानी, खटिया है, उस मैली चद्दर को ओढ़े गुड़मुड़ी मार अपनी छोटी सी कुटी में सो रहे हैं। जिसमें हाथी का प्रवेश तो कौन कहे गधा भी नहीं घुस सकता। जिस प्रकार वह स्वप्न का हाथी न होने पर भी स्वप्न काल में सत्य ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मा देह से पृथक होने पर भी, विषय भोग मिथ्या होने पर भी सत्य के समान प्रतीत होते हैं। इसलिये यदि आत्मा के लिये शोक करते हो, तो यह तो सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा तो नित्य है न जन्मता है न मरता है। यदि देह के लिए शोक करते हो, तो देह तो अनित्य क्षणभगुर है ही। इसका नाश अवश्यम्भावी है। उसे कोई टालना भी चाहे तो नहीं टाल सकता। कितना भी शोक करो जिस वस्तु का जो स्वभाव है

वह बदल नहीं सकता। जो आत्मा नित्य तथा अजर अमर है वह प्रयत्न करने पर भी अनित्य तथा नाशवान् हो नहीं सकता। अतः आप सबका शोक करना व्यर्थ है। आप सबके दुःख को देखकर मुझे दया आ गई है। अतः इस सम्बन्ध में मैं आपको एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद और रोचक कहानी सुनाता हूँ। उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

माया वश ह्वै कर्मबन्ध महँ फँस्यो जीव है।
माया बन्ध न कटे जीव नहिं फेरि शीव है॥
मन ते मोदक खायँ मुदित होवें हर्षावें।
सपने महँ धनहीन चक्रवर्ती बनि जावें॥
स्वप्न मनोरथ ज्यों सबहिं, जैसे सत्यातीत है।
तैसे ही जग को विषय, भ्रमवश होत प्रतीत है॥

स्वपराभिनिवेश अज्ञानजन्य है

(४५५)

तत: शोचत मा यूयं परं चात्मामेव च ।
क आत्मा क: परो वात्र स्वीय: पारक्य एव वा ॥
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥

(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ६० श्लो०)

छप्पय

पँसी कुलिङ्गी एक जाल महँ तजि निज सुतपति ।
लखि कुलङ्ग निज बधू फँसीमन भयो दुखित अति ॥
नैननि नीर बहाय कहै कैसे जीऊँ अब ।
प्रिया विरह अति दुसह भये असहाय पुन सब ॥
देइ दैव को दोष पुनि, कह विधाता का करयो ।
व्याधा मारयो बान तकि लगत बान मरि गिरि परयो ॥

जो स्वय सिंह से भयभीत है, वह दूसरो की उससे क्या रक्षा कर सकेगा। जिसे स्वय सर्प ने डस लिया है, वह

हिरण्यकशिपु अपने स्वजनोंको समझाता हुआ कर रहा है—"देखो, ससार में कोई किसी का है नहीं अत तुम सब अपने या पराये के लिये किसी भी प्रकारका शोक मत करो। इस ससार में अपनापन और परायापन क्या है ? कौन अपना है कौन पराया है। निजत्व परत्व का अभिनवेश अज्ञान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।"

दूसरों को मर्प से कैसे बचा सकता है। इसी प्रकार जो प्राणी स्वयं मरणधर्मा है, जिसे स्वतः एक दिन अवश्य मरना है, वह दूसरों को मृत्यु मुख से सदा के लिये कैसे बचा सकता है। मरे हुए के लिये शोक करने से कोई लाभ तो होता नहीं उलटी हानि ही है। शरीर में अज्ञान के कारण-मिथ्याभिनिवेश के कारण ही शोक तथा मोह होता है।

हिरण्यकशिपु अपने भाई की बहू को सम्बोधन करके सब को सुनाकर कह रहा है—'क्यों कल्याणी! तू इस बात का विचार कर कि तू रोती रहेगी तो क्या होगा। देख सुयज्ञ की रानियाँ अपने मृत पति के शरीर को लेकर भाँति भाँति से विलाप कर रही थीं। उन्हें वह छोटा सा ज्ञानी बच्चा रात्रि में सान्त्वना देते हुए समझा रहा था कि जो मरण शील (शरीर) है, वह अमर हो नहीं सकता। जो अमर आत्मा है उसका कभी नाश नहीं होता। इस विषय में तुम्हारा शोक करना व्यर्थ है। इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, हानि ही होगी। इस विषय में तुम सबको मैं एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब दत्तचित्त होकर ध्यान से सुनो।"

किसी जगल मे एक कुलिङ्ग का जोड़ा रहता था। कुलिंग अपनी कुलिंगी को अत्यधिक प्यार करता था। कुलिंगी भी अपने पति को प्राणों से भी अधिक चाहती थी। दोनों ने एक घने वृक्ष पर अपना सुन्दर घोंसला बना लिया था। दोनों साथ ही चुगने जाते, साथ ही लौटकर आते। साथ ही चोंच में चोंच भिड़ाकर खाते। साथ ही दोनों किलोल करते, आनन्द विहार सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते। उन दोनों में ऐसा स्नेह था कि वे स्नेह के दिन उन्हें जाते हुए

कुछ भी प्रतीत नहीं होते थे कि कब दिन होता है, कब रात्रि। उन्हें उसका कुछ पता नहीं था, वे तो परस्पर के अनुराग में ऐसे उन्मत्त मदान्ध हो रहे थे, कि न उन्हें दिन का ज्ञान था न रात्रि का। इस प्रकार उनके दिन बड़े आनन्द से कटने लगे।

कुछ काल में कलिंगी ने चार सफेद अण्डे दिये। अब वह उन्हें बड़े स्नेह से छाती से चिपटा कर सेती। कालान्तर में वे अण्डे फूट गये और उनमें से चार बिना पङ्ख के बच्चे उत्पन्न हो गये। उन पङ्खहीन मांस के लोथड़ों के समान अति कोमल बच्चों को देखकर माता पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जब वे चीवँ चीवँ करके माता पिता के अंग में लिपट जाते, तो कुलङ्गी अपने आपको भूल जाती। अब दोनों का साथ चरने जाना बन्द हो गया। एक घोंसले में रहकर बच्चों की देखभाल करता। एक दाना ले आता। प्रायः कुलिंगी जाती दाना लेकर लौट आती बच्चों की चोंच में अपनी चोंच सटाकर उन्हें खिलाती, तब तक कुलिंग जाकर और भी दाना ले आता। कुलिंग और कुलिंगी तो परस्पर में मोह ममता में फँसे अपने बच्चों के लालन पालन में व्यग्र हो रहे थे, किन्तु कालदेव एक ओर अव्यग्र भाव से खड़े खड़े उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, कि कालदेव की गणना अब समाप्त ही होने वाली है।

उसी समय वहाँ एक बहेलिया कंधे पर जाल रखे हुए आया। ऐसा प्रतीत होता था, कि मानों साक्षात् यमराज ही बहेलिया का रूप रखकर आ गये हों। उसका शरीर अंजन के समान काला था। बाल कड़े रूखे और ताम्रवर्ण के थे। उसका माथा छोटा था। नाक चिपटी हुई थी। आँखें गोल और लाल

थीं। उसके मुख से क्रूरता मूर्तिमान होकर प्रकट हो रही थी। उसके सभी अंग प्रत्यङ्ग कर्कश और भयानक थे। उसने वहाँ आकर जाल बिछा दिया और उसमें बहुत से चावल के दाने बिखेर दिये।

कुलिङ्गी ने दूर से देखा आज तो भगवान् ने समीप ही बहुत सा भोजन भेज दिया। वह झट से दाने के लालच से घोंसले से उड़ी। ज्यों ही उसने दाने के लिये चोंच मारी त्यों ही जाल में फँस गई। बहुत तड़फड़ाई, घबड़ाई, किन्तु जो जाल में फँस गया सो फँस गया।

दूर से कुलिंग ने देखा—"अरे, यह तो मेरी पत्नी जाल में फँस गई। अब क्या करूँ, यह व्याधा तो उसे मार डालेगा। हाय! मैं अकेला रह जाऊँगा। स्त्री के विना अकेला रहना तो मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी है। स्त्री घर की लक्ष्मी होती है। गृहिणी से ही घर की शोभा है। वही सब घर की देख-देख कर सकती है। उसके विना इन बच्चों को कौन पालेगा। दुख में मुझे धैर्य कौन बँधावेगा। कौन मेरा मनोरंजन करेगा। वह मुझसे कितना प्यार करती, कितनी घुल घुलकर मधु से भी मीठी-मीठी बातें करती। हाय! आज मेरा भाग्य फूट गया। मैं आधे अंग से हीन अनाथ और आश्रय हीन हो गया। मैं अपनी प्यारी पत्नी के विना कैसे जी सकता हूँ। वह मुझे खिलाकर खाती थी, मेरे सो जाने पर सोती थी, मुझसे पहिले उठ जाती थी। मेरे सभी संकेतों को समझती थी। उसके विना मेरा जीवन सूना शुष्क और नीरस हो जायगा।

बालक कह रहा है—"राजरानियो! इस प्रकार वह कुलिंग

भाँति भाँति से शोक करता हुआ रो रहा था, कि पेड के नीचे छिपे हुए व्याध ने एक तककर वाण उस कुलिंग का लक्ष्य करके मारा। वाण कुलिग के हृदय मे लगा। तत्क्षण वह मरकर गिर पडा। क्षण भर पहिले जो अपनी स्त्री का भावी मृत्यु पर दुखी हो रहा था, उसे मृत्यु का सामना करना पडा। वह अपने जीवन से हाथ धो वैठा। इसी प्रकार तुम भी इन राजर्षि के लिये व्यर्थ सोच कर रही हो। एक दिन तुम्हे भी इसी रास्ते से जाना होगा। एक दिन तुम्हें भी मृत्यु के जाल का ग्रास वनना होगा। यदि तुम सौ वर्ष तक ऐसे ही, वैठी रोती रहो तो भी अव तुम फिर अपने पति सुयज्ञ को नहीं पा सकती।"

हिरण्यकशिपु अपनी माताको सम्बोधित करके कह रहा है—"माताजी! इसी प्रकार आप भी चाहें अव जितना सोच कर, आपका पुत्र हिरण्याक्ष अव लोटकर नहीं आ सकता। उसे तो काल रूप कृष्ण ने सूकर रूप से मारकर परलोक पहुचा दिया। उस वालक की वातों को सुनते सुनते सुयज्ञ के सम्वन्धियो की पूरी रात्रि वीत गई।

रात्रि के वात जाने पर सबको वोध हुआ। उस ज्ञानी वालक की वातों का सभी के ऊपर वडा प्रभाव पडा। रानियाँ जो अपने मृत पति के शरीर को कसकर पकडे वैठी थीं उन्होंने उसे छोड दिया। राजा के वन्धु वान्धव सगे सम्वन्धियो ने चन्दन की चिता लगाकर शास्त्रीय विधि से उनका दाह सस्कार किया। फिर समस्त औध्वदैहिक कर्म किये सवके देखते देखते वह वालक वहाँ अन्तर्धान हो गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ५-६ वर्ष के बच्चे को इतना

भारी ज्ञान होना हमें तो महान् आश्चर्य मे डाल रहा है। यह बालक कौन था ?"

इस पर सूतजी वोले—"महाभाग ! यह बालक और कोई नहीं था, स्वयं साक्षात् यमराज ही बालक का वेष बनाकर दयावश सुयज्ञ के बिलखते हुए बन्धु बान्धवों को ढाँढस बँधाने आये थे।"

इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने अपनी माता को भ्रातृपत्नी तथा भतीजों को गूढ़ ज्ञान का उपदेश दिया। उसने कहा—"तुम द्वै भाव को छोड दो। अपने या पराये किसी के लिये भी सोच मत करो। संसार मे तो सभी अपने हैं या सभी पराये हैं। आत्मा के अतिरिक्त सभी पर हैं, त्याज्य हैं और आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ ससार है भी नहीं। अतः सबको अपने आत्मा मे देखो अथवा सभी मे अपने आपके ही दर्शन करो।

देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार जब हिरण्यकशिपु ने अपनी माता को तथा अन्य सभी को समझाया,तो सभी ने धैर्य धारण किया। हृदय से अज्ञानजन्य शोक मोह को निकाल दिया।

दिति ने कहा—"बेटा ! तैंने बड़ी आत्मतत्व की गूढ़ बातें बताईं ! अब मेरा शोक बहुत कुछ कम हो गया। मैं बहू को भी समझाऊँगी कि वह शोक को त्याग दे। ये बच्चे तो अभी बच्चे ही ठहरे। इनको भी मैं समझाऊँगी। तू अब आगे अपने कल्याण की चिन्ता कर। ऐसा न हो कि ये देवता तुझसे भी शत्रुता करें।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"माँ! तुम मेरी कुछ भी चिन्ता न करो। मैं तो अपने पुरुषार्थ से मृत्यु के सिर पर पैर रख दूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर हिरण्यकशिपु आगे के कर्तव्य के विषय में गंभीरता पूर्वक सोचने लगा।

छप्पय

कितनो हू दुख करो भूप कूँ अब नहिं पाओ।
तातें तजि के शोक मातु अपने घर जाओ॥
सुनि बालक की बात शोक सबने तजि दीन्हों।
मिलि सम्बन्धी सबिधि दाह नृपशव को कीन्हों॥
हिरनकशिपु सबते कहैं, बन्धु शत्रु कूँ मारि हम।
बदलो बंध को लेइँगे, तजो शोक सन्ताप तुम॥

हिरण्यकशिपु की तपस्या

(४५६)

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥
स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादांगुष्ठाश्रितावनिः ॥

(श्री०भ० ७ स्क० ३ अ० १,२ श्लो०)

छप्पय

या सबकूँ समुझाइ चल्यो तपकूँ असुराधिप ।
अजर अमर रनजयी रनन हित करे घोर तप ॥
मन्दर गिरि की गुहा माँहि एकाकी रहि कें ।
करे तितिक्षा असुर शीत उष्णादिक सहिकें ॥
मास दीमकनि भखि लयो, अस्थि मात्र ई बचि गई ।
असुर उग्र तपतें जगत, महँ अशान्ति अति मचि गई ॥

शुभ अशुभ कोई भी कर्म क्यों न करो। उसका फल अवश्य ही मिलेगा। वस्तु एक है, पात्र भेद से भावना भेद

धर्मराज युधिष्ठर से श्रीनारद जी कह रहे हैं—"राजन्! अपने आपको अजर, अमर अजेय तथा एकछत्र सम्राट बनने की इच्छा से वह हिरण्यकशिपु मन्दराचल की कन्दरा में जाकर घोर दारुण तप

से उसके फल मे विपर्यय हो जाता है। वर्षा का जल एक है नदी में पडने से मीठा हो जाता है, समुद्र मे पडने से खारा हो जाता है। कल्पवृक्ष सब के लिये एक सा ही फल देने वाला है। उसके नीचे जो चाहो प्राप्त कर लो। किन्तु भावना के भेद से फल मे बड़ा अन्तर हो जाता है। एक कहानी है कि कोई अबोध अज्ञानी अकस्मात् कल्पवृक्ष के नीचे चला गया। वहाँ वह सोचने लगा—' यहाँ तो वडा सुख है जल होता तो स्नान करता पानी पीता तत्क्षण अमृतोपम जल वाला वहाँ एक स्वच्छ सर बन गया। उसने स्नान किया जल पिया। फिर सोचा ऐसी जगह तो एक सुन्दर भवन होता शैया होती तो सोता। तत्क्षण भवन बन गया। सुन्दर स्वच्छ शैया बिछ गई। फिर सोचा—"यदि यहाँ सुन्दर भव्य पदार्थ होते, तो पेट भर के भोजन करता। बात की बात मे ५६ प्रकार के भोगो से सजा थाल वहाँ आ गया। उसने पेट भर भोजन किया। फिर सोचा—"इतने बड़े भवन मे एकाकी क्या रहना। एक स्त्री भी होती तो सुख से बात करते हुए रहते।" देखते देखते स्त्री भी आ गई। अब उसे सन्देह होने लगा। —"यह कोई जादू तो नहीं है, जो सोचता हूँ वही हो जाता है। यह कोई राक्षसी तो नहीं है, जो मुझे खा जाय।" तत्क्षण वह स्त्री राक्षसी बनकर उसे खा गइ। जो कल्पवृक्ष सभी भावनाओं को पूर्ण करता है। उसके नीचे रह कर दिव्य से भोग माँगना ही श्रेयस्कर है। वहाँ यदि बुरी वस्तु माँगो तो वह भी

करने लगा। उसने अपनी बाहुओं को ऊपर उठा रखा था, दृष्टि आकाश की ओर लगा रखी थी, भूमि पर उसका केवल एक अँगूठा ही टिका हुआ था।

मिलेगी। इसी प्रकार तपस्या करके भगवान् की भक्ति माँगना यह तो तप का सर्वोत्कृष्ट फल है और तपस्या करके इस जड शरीर को बनाये रखने की याचना करना, पर पीड़ा की शक्ति माँगना। यह तो तप का दुरुपयोग है। मिलती तो ये भी सब वस्तु हैं, क्योंकि तपस्या तो व्यर्थ जा नहीं सकती। किन्तु इन वस्तुओं से शाँति नहीं मिलती, चित्त सदा उद्विग्न बना रहता है। सर्वदा शत्रु की चिन्ता लगी रहती है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार अपनी माता मातृवधू और भतीजो को समझा बुझाकर हिरण्यकशिपु ने अब अपने को संसार मे सर्वश्रेष्ठ शूरवीर बली बनाने के निमित्त उपाय सोचा। वह सोचने लगा—"किस प्रकार मेरी यह देह सदा ज्यों की त्यों अजर और अमर बनी रहे। किस उपाय से मैं तीनों लोको का एक छत्र सम्राट अजेय समर विजयी तथा सबसे उत्तम सम्माननीय बन सकूँ। कोई भी योद्धा मेरे सम्मुख खड़ा न हो सके। कोई भी मुझे न मार सके न पराजित कर सके। सोचते-सोचते उसके मन मे आया कि सब वस्तुएँ तपस्या के ही द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। तपस्या के प्रभाव से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। असंभव भी संभव बन जाती है इसीलिए मन्दराचल पर्वत पर जाकर तपस्या करनी चाहिए।"

ऐसा सोचकर वह मन्दराचल की एक बड़ी भारी गुफा में चला गया। वहाँ जाकर उसने घोर तप करना आरम्भ कर दिया। वह एक पैर के अँगूठे के सहारे खड़ा होकर, ऊपर हाथ उठाकर, आकाश की ही ओर देखता हुआ वृक्ष के सूखे ठूँठ

की भाँति, निश्चेष्ट भाव से खड़ा रहा। न वह हिलता था न डुलता था। उसके सिर पर बड़ी-बड़ी जटायें बढ़ गई थीं, तपस्या के कारण उसका मुख मन्डल चमचमा रहा था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रलयकालीन सूर्य मयूख माला से सुशोभित हुए दमदमा रहे हों। अजन पर्वत शिखर के समान वह स्थिर भाव से खड़ा था। इस प्रकार वह सहस्रों वर्षों तक खड़ा रहा।

हिरण्यकशिपु को तप में लगा देखकर देवताओं को सन्तोष हुआ। समस्त देवताओं को उसने पदच्युत कर दिया था। स्वयं ही इन्द्रासन पर बैठकर तीनों लोकों का शासन करता था। अब देवता फिर अपने अपने पदों पर आकर प्रतिष्ठित हुए। सब ने सोचा—"अच्छा है यह दुष्ट वहीं तपस्या करते करते मर जाय। उसकी तपस्या साधारण तो थी नहीं। फल फूल अन्न की तो कौन कहे जल की एक बूँद भी नहीं लेता था। उसका रक्त सूख गया। मांस चर्म को दीमकें चाट गईं, केवल अस्थि कंकाल शेष रह गया, किन्तु उसने तपस्या से अपने चित्त को नहीं हटाया। देवताओं के वर्षों से हजारों वर्ष वह ऐसी ही घनघोर तपस्या करता रहा।

उसकी तपस्या परपीड़न के निमित्त तमोगुणी थी। अतः उसके कपाल से तमोमय धूम्रयुक्त अग्नि की एक ज्वाला सी प्रकट हुई। वह अग्नि तीनों लोक में फैलकर सभी प्राणियों को संतप्त करने लगी। उस तमोमय अग्नि के कारण दशों दिशाओं में दुधर्ष दाह फैल गया। द्वीप, पर्वत, नद, नदी पूर्ण पृथिवी उसी प्रकार डगमगाने लगी जैसे हाथी के बैठ जाने से नौका डगमगाने लगती है। कूप, नदी, नद तथा समुद्रों का जल खौलने लगा।

इस पर देवता वोले—"महाराज, उसका विचार है, न एक जन्म में होगा, दो जन्म में होगा। दस,वीस सौ दो सौ,हजार पाँच सौ कितने भी दिनों में हो। इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं। उसका कहना है, यह काल तो निरवधि है। इसका तो कभी अन्त नहीं। आत्मा नित्य, अजर, अमर है। उसका कभी नाश होता नहीं। शरीर तो नाशवान् है ही। अतः कितने भी जन्म में क्यों न हो यह सिद्धि प्राप्त करके ही हटना चाहता है। वह महाराज! आपके ब्रह्मपद को लेना चाहता है, आपकी गद्दी पर अधिकार करना चाहता है। वह कहता है मुझे न शिवपद चाहिए न विष्णुपद मुझे तो ब्रह्मपद से ही प्रयोजन है। वह तो भगवन्! आपके पद के पीछे पागल हो रहा है।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"अच्छी वात है भैया! फिर हानि ही क्या? ब्रह्मा भी तो वदलते ही रहते हैं। ब्रह्मपद पर रहेगा धर्म का पालन करेगा।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"नहीं, भगवन्! आप इस भरोसे पर न रहें। उसका दूसरा ही विचार है। वह कहता है मैं ब्रह्मा होकर इन समस्त नियमों को उलट दूँगा। अधर्म को धर्म वना दूँगा। स्वर्ग में देवों के स्थान पर दैत्य रहेंगे। पृथ्वी से जल, जल से तेज, तेज से वायु और वायु से आकाश उत्पन्न करूँगा। वृक्षों से पुरुष उत्पन्न करूँगा। इस प्रकार वह सृष्टि के पाप-पुण्यादि कर्मों को विपरीत वना देना चाहता है। जगत में उथल पुथल करके प्राकृतिक नियमों में मूलतः उलट पलट करना चाहता है। हमने तो ऐसा ही सुना है, कि वह आप को हटा कर, आपके पद पर प्रतिष्ठित होकर ये विपरीत वातें करना चहता है। यह महाराज! हम सुनी सुनाई वातें कह रहे हैं।

इसमें सत्यता कितनी है और उसे इसमें सफलता कहाँ तक प्राप्त हो सकती है, इसे तो सर्वज्ञ होने के कारण आप ही जान सकते हैं।

इस पर ब्रह्माजी ने गभीर होकर देवताओंसे कहा—'अच्छा, इस विषय में तुम सबकी क्या सम्मति है ?'

देवताओं ने यह सुनकर कहा—"महाराज ! हम में आप को सम्मति देने की योग्यता कहाँ है। इसे तो आप ही निर्णय कर सकते हैं। हमारी सम्मति तो यही है, कि वह जो कुछ चाहे उस वर को दे दा कर उसे तप से निवृत्त करें। आगे न जाने और क्या उपद्रव करेगा। भगवन ! आपका पद असुरों के बैठने योग्य नहीं है। इस स्थान से तो सदा गो ब्राह्मणों का हित होता रहा है। सबका मूल कारण होने से ब्रह्मपद कल्याण, विभूति, कुशल और विजय का कारण है। उस पर तो आपकी ही शोभा है। आपके द्वारा ही इतना प्रतिष्ठित पद बना हुआ है। यदि इस पर हिरण्यकशिपु राक्षस आकर बैठ गया, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।

देवताओं की सब बातें सुनकर गम्भीर होकरब्रह्माजी बोले—"अच्छा भैया, तुम सब लोग जाओ। मैं इसका कुछ न कुछ उपाय अवश्य सोचूँगा। उसे जैसे बनेगा तैसे तप से निवृत्त करूँगा। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।"

श्री नारद जी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार देवताओं को आश्वासन देकर बूढ़े बाबा उस असुर के समीप जाने की तैयारियाँ करने लगे।

छप्पय

दौरे दौरे देव गये धाता के ढिंग सब।
बोले ब्रह्मन् बढ्यो बवडर विश्व माहिँ अब॥
असुर करे तप देव ब्रह्मपद चाहे लेवो।
ब्रह्मा बनि के चहे आप कूँ धका देवो॥
सुनि विधि बोले देवगन, असुर निकट हौं जाऊँगो।
दैके इच्छित वर तुरत, तप ते ताहि हटाऊँगो॥

हिरण्यकशिपु को दुर्लभ वरों की प्राप्ति

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यदपि दुर्लभान् ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० २ श्लो०).

छप्पय

यों कहि ब्रह्मा गये ढेर दीमक को देख्यो ।
तृन बाँसनि ते ढक्यो अस्थिमय सुररिपु पेख्यो ॥
दिव्य कमण्डलु नीर छिरकि तनु सुघर बनायो ।
बोले बेटा ! माँगु तोहि वर देवे आयो ॥
करि पूजा बोल्यो असुर, माँगू वर ये देहिँ विभु ।
रचे तुम्हारे जीव तें, मृत्यु न मेरी होहि प्रभु ॥

तप कभी व्यर्थ नहीं जाता, तप का फल अवश्य होता है, किन्तु जो तप देह को ही आत्मा समझ कर देह की अजरता, अमरता तथा लौकिक ऐश्वर्य के निमित्त किया जाता है, वह

हिरण्यकशिपु के वरदान माँगने पर श्री ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे तात ! यद्यपि तुम जो भी वर मुझसे माँग रहे हो, वे मनुष्यों के लिये अत्यन्त ही दुर्लभ हैं । फिर भी कितने भी दुर्लभ क्यों न हों, मैं उन सब वरों को तुम्हें देता हूँ ।"

राजस् तामस् तप है। जो तप भगवत् प्राप्ति के लिये किया जाता है, यथार्थ मे तो वही तप है। असुर भी तप करते हैं और भक्त भी तप करते हैं। दोनो पर ही तप के प्रभाव से इष्ट प्रसन्न होते हैं। असुर माँगते हैं—"हमारा शरीर सदा बना रहे हमे कोई जीत न सके, जिसके सिर पर भी हम हाथ रख दें वही मर जाय, "इत्यादि इत्यादि" किन्तु भक्तगण इष्ट के प्रसन्न होने पर कहते हैं—"हमे धन नहीं चाहिये, वैभव की हमें वांछा नहीं। हमे प्रसन्न होकर प्रखर प्रतिभा दे इसके लिये भी हमारा आग्रह नही। हमे परिवार, पुत्र, पत्नी तथा प्रिय परिजनों की प्राप्ति हो, इसकी भी अभिलाषा नहीं। हम तो हे कमलनयन! हे हृदयेश! यही चाहते हैं, कि आपके पावन पादपद्मों में हमारी अहैतुकी भक्ति हो।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु के तप की बात ब्रह्माजी से कहकर देवता अपने अपने लोकों को चले गये, तब लोकपितामह ब्रह्मा अपने पुत्र मरीचादि प्रजापतियों से घिरकर उस स्थान पर आये जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था। ब्रह्माजी ने अपने हंस पर से बैठे ही बैठे हिरण्यकशिपु को देखना चाहा, किन्तु उन्हे वह दिखाई ही न दिया। इधर उधर बहुत खोज की किन्तु वहाँ कहीं हिरण्यकशिपु का पता ही न चला। सर्वत्र घास खड़ी थी। बाँसों का वन था दीमकों ने स्थान स्थान पर मिट्टी के ढेर एकत्रित कर लिये थे। विशेष अन्वेषण करने पर उन्हे एक दीमक का ढेर सा दिखाई दिया उस पर बाँस उग हुए थे। बड़ी बड़ी दूब जम रही थी। चीटियो ने वहाँ बहुत से बिल बना रखे थे। ध्यान से देखने पर ब्रह्माजी को निश्चय

हो गया। कि यही हिरण्यकशिपु है। उन्होंने देखा उसके रक्त, मांस, मेदा, चर्म आदि को दीमक और चींटी आदिकों ने चट कर लिया है, केवल उसकी अस्थिमात्र अवशिष्ट है। यह देखकर दयावश लोकपितामह ब्रह्माजी उससे बोले—"हे दितिनन्दन! हे कश्यपकुलकेतु! उठो, उठो अब तुम्हारी तपस्या पूरी हुई। तुम्हारी साधना का श्रम सफल हुआ। तुम अब सिद्ध हो गये। उठो, उठो अब अधिक कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हें वर देने के लिये आया हूँ। जैसा तप तुमने किया है वैसा न आज तक किसी ने किया और न आगे कोई कर सकेगा। तुम्हारा धैर्य विलक्षण है। देखा, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को चींटियों ने, दीमकों ने, डाँस और मच्छरों ने खा लिया है, फिर भी तुम तप से निवृत्त नहीं हुए। देवताओं के वर्षों से सौ वर्ष पर्यन्त तुम बिना कुछ खाये, बिना जल पिये, शरीर की सुधि भुलाये तपस्या कर रहे हो, इस प्रकार तप करने की किसकी सामर्थ्य है? मैं तुम्हारे दुष्कर कर्म से सराहनीय साहस से, तीव्र तपोनिष्ठा से और सुदृढ़ निष्ठा से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे जो चाहो वर माँगो। तुमने मुझे अपने तप से वश मे कर लिया है, अब तुम जो भी वर माँगोगे उसे ही मैं दूँगा। मुझे देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व तथा सभी प्राणी वरदाताओं मे श्रेष्ठ बताते हैं, मैं तुम्हारे भी मनोरथों को पूर्ण करूँगा। तुम अब विलम्ब न करो और निःसंकोच होकर जो चाहो वर माँग लो। तुम मरणधर्मा प्राणी हो, मैं नित्य अमर हूँ, अतः मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी ने विविधि भाँति से हिरण्यकशिपु को समझाया,

किन्तु उसने कुछ सुना ही नहीं वह तो दीमकों के ढेर में जड़ बना हुआ था। तब तो ब्रह्माजी समझ गये कि इसे मर आने का पता भी नहीं है। अतः पहिले इसे चेतन्यता प्राप्त करानी चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने अपने दिव्य कमण्डलु का अमोघ जल उनके ऊपर छिड़क दिया। उस दिव्य जल के स्पर्श होते ही वह उसी प्रकार उन बाँस दूब के बीच में से उत्पन्न हो गया, जिस प्रकार अरणियों के बीच में से अग्नि प्रकट हो जाती है। अथवा मन्द हुई अग्नि में से घृत पड़ने से प्रज्वलित हो जाती है, अथवा सूखा हुआ वृक्ष जैसे अमृत पड़ने से हरा हो जाता है, अथवा मुरझा हुआ कमल पानी पाकर प्रफुल्लित हो जाता है। जिस कमण्डलु से त्रैलोक्य पावनी, मुनिमनहारिणि जगद्वन्दिनी भगवती भागीरथी प्रकट हुई हैं उस अघहारी जल के स्पर्श होते ही हिरण्यकशिपु का शरीर पहिले से अधिक दिव्य सुदृढ़ और दर्शनीय हो गया। सह, ओज और बल से युक्त होकर वह परम दर्शनीय और हृष्ट पुष्ट होकर उस वल्मीक के ढेर से बाँसों और तृणों के बीच से सहसा खड़ा हो गया सुवर्ण के समान उसका शरीर दमक रहा था। दिव्य आभूषण उसके अङ्गों में चमक रहे थे। जब उसने आकाश में हंस पर विराजमान लोकपितामह ब्रह्माजी को देखा, तब तो वह हक्का बक्का सा रह गया। सभ्रम के साथ प्रेम के वेग में और कुछ भी न करके वह भूमि में दण्ड के समान पड़ गया और भक्ति भाव से लोक पितामह को साष्टाङ्ग दण्ड प्रणाम करता रहा। बड़ी देर तक वह ऐसे ही पड़ा रहा। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, बाह्यज्ञान होने से वह उठा। उसके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो रहे थे, प्रेम के कारण कण्ठ

गद्गद हो गया था। बड़े कष्ट से आँसू पोछकर वह भर्राई

हुई वाणी से भगवान् ब्रह्मा की स्तुति करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी की अव्यक्त ब्रह्मभाव से बड़ी ही सुन्दर स्तुति की। उसमें ब्रह्माजी को ही सृष्टि स्थिति और लय का कारण बताया। उन्हें ही अव्यक्त, पुराणपुरुष, निरुपाधिक चेतन अचेतन शक्ति से युक्त, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वगत सिद्ध किया। उस दिव्य स्तुति को मैं फिर स्तुति प्रसङ्ग मे सुनाऊँगा। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने पुनः कहा—"बेटा! मैं तेरे तप से ही परम सन्तुष्ट था, अब तैंने दिव्यस्तुति करके मुझे और भी अधिक सन्तुष्ट कर लिया, अब तू अपना मनोभिलषित वर मुझसे माँग ले।'

ब्रह्माजी की बात सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ हैं, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे सदा के लिये अजर अमर-कभी भी न मरने वाला बना दीजिये।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! वस्तु तो वही माँगनी चाहिये जो जिस पर हो। किसी व्यक्ति ने शीतला देवी की आराधना की। शीतला देवी का वाहन गधा है। कुछ काल के अनन्तर उसकी आराधना से सन्तुष्ट होकर गर्दभवाहिनी भगवती शीतलादेवी प्रकट हुईं और उससे वर माँगने को कहा। उस व्यक्ति ने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं,

तो मुझे एक सुन्दर घोड़ा दे दे।"

यह सुनकर खीजकर देवी बोली—"मैं स्वय तो गधे पर चढ़ती हूँ, तुझे घोड़ा कहाँ से दूँ। घोडा होता तो मैं ही उस पर क्यों न चढ़ती ?" सो, भैया ! अजर अमर तो हम भी नहीं। अपनी आयु से १०० वर्ष पूर्ण हो जाने पर हम बदल जाते हैं। दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। हमारा पद भी स्थाई नहीं। यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है। भगवान् की अचिन्त्य माया है, उसका पार मैं स्वय भी नहीं पा सकता। हाँ, जो हमारी शक्ति को गत हो, उसे हम दे सकते। तू जितना अपना बचाव कर सकता हो उतना कर ले। अपने आपको बचाने के लिये जितनी बाते सोच सकता हो, उनसे अपने को निर्भय बना ले।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन् ! अब मैं जो जो वर माँगू उन सबको आप मुझे दे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, माँगो।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छा प्रभो ! इन बातो से मुझे अभय कर दे।

१—मैं आपके रचे हुए किसी प्राणी से न मरूँ।

२—किसी घर, मठ, महल के भीतर न मरूँ और बाहर भी न मरूँ।

३—मेरी मृत्यु न तो दिनमे हो न रात्रि के समय हो।

४—किसी अन्य व्यक्ति के रचे हुए से भी मेरी मृत्यु न हो।

५—किसी भी धातु के, काष्ठ के, बने अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो।

६—पृथ्वी मे स्थित मेरे शरीर का अन्त न हो।

७—अधर आकाश मे उड़ते हुए या लटकते हुए मेरी मृत्यु न हो।

८—जितने भी मनुष्य हैं, जितने भी पशु पक्षी हैं जितनी भी जाति के जीव हैं उनमें से किसी से मेरी मृत्यु न हो।

९—पृथ्वी के अतिरिक्त स्वर्गादि अन्य लोकों मे रहने वाले देवता, असुर, यक्ष, नाग, गुह्यक, कूष्माण्ड, वैताल, भूत प्रेत, पिचाश, डाकिनी, साकिनी, गन्धर्व, किंपुरुष, किन्नर आदि किसी भी देव उपदेव जाति के जीव से मेरी मृत्यु न हो।

१०—युद्ध मे अस्त्र शस्त्र लेकर कोई भी मेरा सामना न कर सके।

११—तीनों भुवनों का मैं ही एकमात्र अधीश्वर होऊँ।"

१२—इन्द्रादि सभी लोकपाल आपका आदर करते हैं आप की आज्ञा मानते हैं, मेरी भी वैसी ही महिमा हो, मेरी भी आज्ञा को सब लोग विना ननु नच किये माना करें। सर्वत्र मेरी अप्रतिहत आज्ञा चले। आपको जो अणिमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हैं, व मुझे भी प्राप्त हों। योगादि के प्रभाव से योगिजनों को कभी भी क्षीण न होने वाला ऐश्वर्य मुझे भी प्राप्त हो। सारांश में आपसे किसी बात मे कम न होऊँ।"

इतने वरों को एक साथ सुनकर ब्रह्माजी घबड़ाये। वे सोचने लगे—"यह तो मुझसे भी बढना चाहता है। मेरी सम्पूर्ण विभूति पर अधिकार करना चाहता है।" किन्तु करते क्या वचन दे चुके थे। अत. बोले—"बेटा! मैं तेरे तप से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यद्यपि तुम जो जो वर माग रहे हो, वे सब मरणधर्मा जीव के लिये परम दुर्लभ हैं। किन्तु तुमने तप हा अभूतपूर्व किया है और मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ, अतः दुर्लभ होने पर भी मैं तुम्हें ये सब वरदान देता हूँ। अपनी ओर से तो में तुम्हे ये सबवर देता हूँ। आगे भगवान् जाने।"

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार परम दुर्लभ होने पर भी उन सब वरो को हिरण्यकशिपु को देकर अमाघानुग्रह भगवान् ब्रह्माजी दैत्यराज से पूजित हाकर अपने लोक को चले गये।"

हिरण्यकशिपु पहिले से ही अभिमानी था। अब जब उसनें ऐसे ऐसे श्रेष्ठ वर प्राप्त कर लिये तब तो उसका अभिमान सीमा को पार कर गया। अब तो वह ससार मे अपने को सर्वश्रेष्ठ शूरवीर पराक्रमी और निग्रह अनुग्रह करने मे समर्थ समझने लगा। ससार मे सभा को तुच्छ समझता। तपस्या के कारण उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण क समान सुन्दर और तेज युक्त हो गई थी। उसके अग प्रत्यग से दर्प निकल रहा था, वह सभी को अपने सम्मुख तृण के समान समझता था। अब उसने सम्पूर्ण जगत् को अपने वश मे करने का निश्चय किया। उसने साचा—"यह विष्णु ही देवताओं का मूल है। इसी क बल पर देवता उछल कूद मचाते हैं। देवताओं के कहने से ही मेर छोटे भाई को वाराह रूप विष्णु ने मार डाला है, अतः मैं

इस विष्णु को मारकर अपने भाई का बदला लूँगा देवताओं को आश्रयहीन बनाकर अपना दास बनाऊँगा।" यही सब सोचकर वह भगवान् के साथ द्वेष करने लगा। उन्हे अपना शत्रु समझने लगा।

छप्पय

भीतर बाहर नहीं मरूँ निशि तथा दिवस महँ।
अस्त्र शस्त्र तें नहीं कहूँ सब हो मम वश महँ॥
होहि न मेरी मृत्यु मनुज, मृग, नाग असुर तें।
नहिं नभ थलमहँ मरूँ होहि भय नहिं सुरनरतें॥
प्रभु जस जग महँ मान्य हैं, तस मेरो हू वृद्धि हो।
बल महँ तप महँ तेजमहँ, योगिनि सम सब सिद्धि हो॥

हिरण्यकशिपु का अनुपम ऐश्वर्य

(४५८)

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ४ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मा बोले—वत्स ! बहुत वर दुरलभ माँगे ।
तऊ दुगो अवसि करयो प्रन तेरे आगे ॥
वर दे अन्तर्धान भये सुररिपु घर आयो ।
विधि वर मद महँ मत्त उपद्रव आइ मचायो ॥
सुरपुर यमपुर वरुनपुर, धनपतिपुर• निज करें वश ।
सबको स्वामा बन गयो, फाको सबको करयो यश ॥

ससार मे एक तो प्रेम से प्राणी वश मे होते हैं। और दूसरे भय से । प्रेम से तो हृदय से वश मे हो जाते हैं और भय से केवल शरीर से और वाणी से वश मे होते हैं प्रेम

---

*नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु ने सम्पूर्ण जावों को स्वामियों को जीतकर अपने वश में कर लिया । अपने तेज से सभी लोकपालों के स्थाना और तेज को छीनकर वह असुर विश्व को जीतने वाला हो गया ।"

की अधीनता जीवन पर्यन्त सदा बनी रहती। किन्तु भय की अधीनता तभी तक रहती है जब तक अपने में शक्ति न हो, निर्बलता बनी रहे। जहाँ सबल हुए विरोध करने की शक्ति आई, तहाँ अधीनता समाप्त हो जाती है और उस पराधीन बनाने वाले के सर्वनाश का प्रयत्न करते हैं। पाशविक शक्ति का कुछ दिन तक बोलबाला रहता है, एक दिन उससे भी बलवान् आकर उसे पछाड़ देता है। उसके मरने पर सब सुखी होते हैं, संसार में सर्वत्र उसकी निंदा फैल जाती है, किन्तु प्रेमी के मरने पर सभी उसके लिये दुखी होते हैं और उसका यश सौरभ संसार में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, वे यश के कारण अजर अमर हो जाते हैं। यह साधारण लोगों के सम्बन्ध का सिद्धान्त है। भगवान् से तो द्वेष करने वाले भी अजर अमर हो जाते हैं। उनके कोई काम से, क्रोध से द्वेष से अथवा लोभ से कैसे भी सम्बन्ध जोड ले वही अमर हो जाता है इसलिये जिस किसी प्रकार मन को श्री कृष्ण से ही सम्बन्धित कर देना चाहिये।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् ब्रह्माजी से ऐसे ऐसे दुर्लभ वर पाकर हिरण्यकशिपु अपने घर आया। आते ही उसने इच्छा प्रकट की कि मैं विश्वविजय के लिये दिग्विजय करने जाना चाहता हूँ। यह सुनते ही हाथी, घोडा, रथ तथा पैदल इस प्रकार चतुरंगिनी सेना सजकर उसके पीछे चलने को उद्यत हुई। उसने डॉट कर कहा—"साथ मे सेना तो वे लोग ले जाते हैं, जिन्हें अपने बाहुबल का भरोसा नहीं। मैं तो अकेला ही सम्पूर्ण विश्व को विजय करूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर वह शूरमानी दैत्य हाथ मे गदा लेकर दिग्विजय के लिये निकला। पहिले उसने समस्त असुरो को अपना बल दिखाया। असुरो ने एक स्वर से उसे अपना सम्राट स्वीकार कर लिया। असुरो को जीत कर उसने स्वर्ग पर चढाई की। देवता तो उसका नाम सुनते ही स्वर्ग को सूना छोड कर भाग खड़े हुए। समस्त स्वर्गीय वस्तुओ पर उसका स्वतः ही आधिपत्य हो गया जब देवता ही हार गये तब उपदेवो की तो बात ही क्या है। गन्धर्व, नाग, गरुण, सिद्ध, चरण, विद्याधर, पितर, यक्ष राक्षस, भूत. प्रेत, पिशाच, वैताल, गुह्यक, कूष्मांड, मनुष्य, ऋषि, मुनि मनु, प्रजापति तथा सभी गणो के अधिपति उसके प्रभाव को देख कर हतप्रभ हो गये। सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार करली। इस प्रकार उसने दशो दिशाओं को तीनो लोको को अपने वश मे कर लिया। जिन जिन के जो जो सुन्दर स्थान थे, वे सभी इस विश्वविजयी दैत्य ने छीन लिये ससार मे जितने रत्न हैं सभी को चुन चुन कर इसने अपने भवन मे एकत्रित कर लिये। अब इसने पृथ्वी पर रहना छोड़ दिया। इन्द्र की अमरावती पुरी मे जाकर अपनी राजधानी बनाई।

ब्रह्माजी के वरदान के कारण दैत्य को कोई भय तो था ही नहीं। संसार मे अपना कोई शत्रु न रहने से किसी बात की उसे चिन्ता भी नहीं थी। मनुष्य जब चिन्ता और भय से मुक्त हो जाता है, तो उसे कला कोशल की वृद्धि, नाना प्रकार की सजावट तथा इन्द्रिय सुखों की बाते सूझती है। इसीलिये अब दैत्य स्वर्ग मे रह कर वहाँ के सुखो का उपभोग करने लगा।

स्वर्ग की शोभा का तो कहना ही क्या है, जहाँ दिव्य नन्दन वन है, जिसमें कल्पवृक्ष, पारिजात के कभी भी न कुम्हिलाने वाले, सम्पूर्ण स्वर्ग को सदा सुवासित बनाये रखने वाले दिव्य पुष्प खिले रहते है, उस वन की शोभा से अमरावती के अनुपम उद्यानों में जिनकी रचना स्वय साक्षात् विश्वकर्माने की है, उन त्रिलोकी शोभा के आश्रय भूत निखिल वैभव सम्पन्न इन्द्र भवनो मे देवाङ्गनाओं के साथ वह विहार करने लगा।

यौवन के मद से मदमाती नवीन वय वाली स्वर्गीय सुरललनाओं के सरल संगीतों से उसकी निद्रा खुलती थी और देवता, ऋषि, मुनि, सूतमागधों की भाँति उसकी स्तुति करते थे। उसके रहने की चित्रसारी अटाअटारी, शयनगृह, पानगृह, क्रीडागृह सब के सब सुन्दर सजे बजे और कला कौशल पूर्ण थे। कनक के बने भवनों में विद्रुम की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं। उनके आँगन मरकत मणियों से बने हुये थे। दूर से देखने मे एस लगते थे मानों समुद्र मे हिलोरे उठ रही हों, भवनों की भव्य भीतें स्फटिक मणियो की थीं, जिन्हें देखते ही आँखों के सामने चकाचौंध हो जाता। उसमें जितने खम्भे थे वे वैडूर्य मणियों से बने हुये थे। वे भवन क्या थे, मानो मणि मुक्ताओं के आलय थे शोभा के समुद्र थे। उनकी सजावट कला कोविन्दो ने सौन्दर्य विशारदों ने बड़ी लगन के साथ चित्त लगाकर की थी। चाँदनी और मोतियों की झालरों के चाकचिक्य से वे झलमल झलमल कर रहे थे। उनमें स्थान स्थान पर पद्मरागमणियों के आसन पड़े थे। वे भवन सभी ऋतुओं के लिए सुखदाई थे। उनमें सदा बासती

सुषमा विराजमान रहती। न वहाँ गरमी पड़ती थी, न सरदी। वायु मद, सुगधित और मनोनुकूल बहती थी। वहाँ शैयायें सुखद, स्वच्छ, सुन्दर तथा सभी सुन्दर सामग्रियो से सुसज्जित थीं। उन पर अत्यन्त ही सुकोमल गुदगुदे गद्दे बिछे हुए थे। दुग्ध फेन के समान, श्वेत शख के समान, बकुले के पख के समान शुभ्र वस्त्र उन पर बिछे थे। सुन्दर सुगधित पुष्पो की सुकोमल कलियों से वे कारीगरी के साथ सजाई गई थीं। उनमें मोतियो की झालरें हिल रही थीं। अत्यन्त सुखस्पर्श सुकोमल ओढने के वस्त्र और सिरोश पुष्पो के पखडियों से भी मृदु तकिये इधर उधर रखे हुए थे। वहाँ तेल अथवा घृत के दीपक नहीं जलाये जाते थे प्रकाशवान् मणियों के प्रकाश से ही वे दिव्य भवन सदा आलोकित बने रहते थे। क्षीण कटि, मृदुहास और सुन्दर दाँतो वाली यौवन और मेरेय मधु के मद से मदमाती असख्यो ललाम ललनाये अपने नूपुर युक्त पदो की ललित गति से उन भवनों का सदा सगीतमय बनाये रखती थीं। उनके नूपुरों की ध्वनि से, करधनियो और आभूषणों की झकार से वे सुरभवन बोलते हुए से-गाते हुए से-प्रतीत होते थे। छम्म-छम्म करती हुई, और रत्न स्थलियों मे अपने मनोहर मुखो को निहाती हुई, सिहाती इठलाती, नैनो को नचाती देवाङ्गनाये उन भवनों मे स्वच्छन्द विहार करती रहती थीं। उन्हें न किसी वस्तु की चिन्ता थी, न आकाक्षा। सभी सामग्रियाँ उन्हे सकल्प मात्र से प्राप्त थीं। पहिले वे देवराज इन्द्र को रिझाती थीं अब दैत्यराज हिरण्यकशिपु की परिचर्या मे सदा लगी रहती थीं।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु जितना ही सौन्दर्य प्रिय था, उतना

ही कठोर शासक भी था उसके सम्मुख सिर उठाने के लिये किसी का साहस नहीं होता था। वह महाबली, मनस्वी, ओजस्वी, त्रैलोक्य विजयी तथा संसार में सर्वश्रेष्ठ शूरवीर था। वरदानों के प्रभाव से उसके सम्मुख समर में अस्त्र लेकर शत्रु ठहर नहीं सकता था। जिन देवताओं का तेज, ओज, उसके तेज के सम्मुख दब गया था, वे देवतागण उसके युगल चरणों की सदा सेवा करते रहते थे। उसकी ओर आँख उठाकर कोई देखदे ऐसा साहस किसी का भी नहीं होता था। वह सुन्दर उत्कट गंध वाली मदिरा का निरन्तर पान करता था, इसके कारण उसके अरुणाचण के बड़े बड़े विशाल नेत्र मदमाते अलसाये से सदा चढ़े हुए रहते थे। तप में, तेज में, ओज में, पान में, पराक्रम में तथा शारीरिक बल में उसके समान, त्रिभुवन में तीनों देवों को छोड़कर और कोई नहीं था। इन्द्र, वरुण, कुबेर यम वायु, अग्नि आदि लोकपाल हाथों में उपहार लिये उसकी सेवा में सदा समुपस्थित रहते थे। वह जब आज्ञा देता तब उठते, वह जब कहता तब बैठते। इतना कठोर हृदय होने पर भी वह असुर संगीत का बड़ा प्रेमी था। विश्वावसु, तुम्बुरु, आदि गंधर्व सदा उसकी सभा में उसी का गुणगान करते रहते थे। ऋषि' मुनि' सिद्ध, विद्याधर आदि उसी की स्तुति करते। राजन्! और की तो बात ही क्या हमें भी उसके गुण गाने पड़े।

यह सुन कर हँसते हुए धर्मराज बोले—'भगवन्! आप तो भगवान् के अवतार हैं। आप उस दुष्ट के गुण क्यों गाते थे।"

शीघ्रता से नारद जी बोले—"अजी, राजन! बलवान् के

सम्मुख अवतारपना सब धरा ही रह जाता है उस समय उस रज और तम युक्त तामसी अवतार का ही समय था। सभी अपने अपने समय पर चमकते हैं। परशुरामजी इतने बडे बडे बली क्षत्रियो के सम्मुख कितने चमके। सहस्राबाहु भी तो अवतार ही था किन्तु परशुराम अवतार के सामने उसका तेज हत हो गया वह उनके हाथा मारा गया। कोई क्षत्रिय उनका सामना न कर सका। २१ बार घूम घूमकर उन्होंने पृथ्वी को नि.क्षत्रिय बना दिया। जब उनका समय समाप्त हो गया तो श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख वे पराजित हुए। लज्जित हुए, तेज हीन बन कर तपस्या करने गये। इसी प्रकार उस असुर के सम्मुख मेरा भी अवतारपना भूल गया। मुझे भी उस की हा म हाँ मिलानी पड़ी।

धर्मराज हँसकर बोले—"महाराज! आप कैसे उसकी सभा में पहुँच गये।"

इस पर नारद जी बोले—"राजन! आप जानते ही हैं। मैं सगीत का व्यसनी हूँ। गायन मुझे बडा प्रिय है। सदा ही मैं अपनी इस स्वरब्रह्म विभूपित वीणा पर भगवान् के सुमधुर नामों की तान छेडता रहता हूँ। तुम्बुरू गन्धर्व से मेरी प्रगाढ मैत्री है। एक दिन उस गन्धर्व ने उस दुष्ट से कह दिया—"महाराज, एक तुमडिया बाबा जी है वह बडा अच्छा गाता है।" बस फिर क्या था। उसने आज्ञा की उस बाबाजी को पकड लाओ।"

तुम्बरू तो मेरे स्वभाव को जानता था, वह मेरे पास आया और बोला—"नारद जो! आज कल स्वर्ग म सगीत की बडी

सुन्दर गोष्ठी होती है, यह जो असुर नया इन्द्र बना है, यह संगीत का बड़ा प्रेमी है। अच्छे गायक गन्धर्वों को और अप्सराओं को वह बुलाकर रखता है। एक दिन आप भी चलो।"

राजन्! संगीत प्रेमी को यदि कहीं सुन्दर संगीत श्रवण का सुअवसर प्राप्त हो जाय, तो वह उसे कभी छोड़ नहीं सकता। मैंने तुरन्त अपनी वीणा उठाई और तुम्बरू के साथ चल पड़ा। स्वर्ग में जाकर मैंने देखा, कि संगीत का सागर बह रहा है। वहाँ हमारा स्वागत कोन करता है। गन्धर्वों मे ही जाकर हम बैठ गये। सब लोग गा गाकर उसे सुना रहे थे। मैंने भी तुम्बरू से कहा—"मैं गाऊँ क्या? उसने संकेत से कहा—"नहीं अभी नहीं।

बड़ा सुन्दर संगीत हो रहा था, बार बार मेरा हृदय तड़पने लगा। गाने के लिये मैं छटपटाने लगा, किन्तु तुम्बरू मुझे बार बार बरज देता था। उसी समय हिरण्यकशिपु ने तुम्बरू की ओर देखा। तुम्बरू ने खड़े होकर कहा—"प्रभो ये ही मेरे देवर्षि नारद हैं, बड़ा सुन्दर गाते हैं। आज्ञा हो तो इनका भी कुछ हो।"

यह सुनकर उसने गर्व सहित स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। मैं अपनी वीणा सम्हाल कर उस पर अलाप भरने लगा। ज्यों ही मैंने राम कृष्ण हरि की तान छेड़ी त्यों ही उसकी दोनो कुटिल भ्रकुटियाँ चढ़ गईं और क्रोध के कारण ओठ काटने लगा। तुम्बरू मुंह मे वस्त्र देकर मुख फिरा कर हँस रहा था। अप्सरायें डर रही थीं। गन्धर्व उत्सुकता से मेरी ओर देख रहे थे। राजन्! आप जानते ही हैं, मैं तो समय

चादी हूँ। समय देखकर काम करता हूँ। असमय मे बेसुरा राग नहीं अलापता। जब मैंने देखा, कि यहाँ इस समय राम-कृष्ण गुण गाने का अवसर नहीं है, तो मैंने अपना राग बदल दिया और गाने लगा—"हिरण्यकशिपु हिरण्यकशिपु हिरण्यकशिपु हारी। जय हिरण्यकशिपु हारी।"

अपने नाम का कीर्तन सुनकर वह असुर बडा प्रसन्न हुआ। उसने तुम्बुरू से पूछा—"यह तूमडिया बाबाजी मेरे नाम का कीर्तन कर रहा है, यह तो बडा सुन्दर है, किन्तु यह पद के अत मे हारी हारी क्या कहता है?"

तुम्बुरू ने बात सम्हाल ली। वह बोला—"प्रभो! ये इन अप्सराओ को सम्बोधन करके कहते हैं कि अरी अप्सराओ हा, देखो कैसा सुन्दर नाम है।" यह सुनकर वह दुष्ट सतुष्ट हुआ। सो, राजन्! हमने कीर्तन तो किया था हिरण्यकशपु हारी श्री हरि का ही, किन्तु उस दुष्ट को प्रसन्न करने के लिये छल से किया था। भगवत् के नाम का कीर्तन कैसे भी किया जाय कल्याणप्रद ही है।

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार वह दुष्ट स्वर्ग के सुखो का ही उपभोग नहीं करता था, किन्तु यज्ञों में जो इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओं और लोकपालो को हवि भोग दिया जाता था, उसे भी वह स्वय ही ग्रहण करने लगा। बड़ी बडी दक्षिणाओं वाले-धूम-धाम से विधि विधान पूर्वक किये हुये यज्ञों से यजन किये जाने पर उन भागों को अपने प्रबल प्रभाव के कारण वह अपहरण करने लगा। जड़ चैतन्य सभी उसके भय से थर थर काँपते थे।

एक दिन वह पृथ्वी पर विचरण कर रहा था, उसने देखा बहुत से कृषक हल लेकर पृथ्वी जोत रहे हैं। उसने पूछा—"तुम सब लोग स्वयं इतना परिश्रम क्यों कर रहे हो और इन बैलों को इतना कष्ट क्यों दे रहे हो ?"

कृषकों ने कहा—"प्रभो ! यदि हम भूमि को जोते नहीं, तो इसमें बीज भी न जमेगा। बीज न जमेगा तो हम सब खायेंगे क्या बिना खाये भूखों मर जायँगे इसीलिये भूमि को जोत रहे हैं।"

उसने क्रोध के साथ पूछा—"यदि न जोतो तो ?"

कृषकों ने कहा—"अन्नदाता ! न जोते तो भूमि उर्वरा न रहेगी, ऊसर हो जायगी। अन्न उत्पन्न न करेगी।"

रोष के स्वर में वह दैत्यराज बोला—"मेरे राज्य में पृथ्वी का इतना साहस ? मैं आज्ञा देता हूँ, आज से हलों को तोड़ कर फेंक दो कोई पृथ्वी को न जोते और न उसमें बीज बोये जिसे जिस धान्य, ओषधि की इच्छा हो मन से सकल्प करले। पृथ्वी घर बैठे उसे दे न देगी, तो मैं इस पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।"

उस दैत्य से तो सभी डरते थे, उसी दिन से पृथ्वी बिना जोते बोये उसके राज्य में यथेष्ट इच्छित अन्न उत्पन्न करने लगी। स्वर्ग में जो जिसकी जब जैसी इच्छा होती तब तैसी ही वस्तुएँ मिलती। पाताल लोक में ऐसे ऐसे रत्न भर गये, कि वहाँ मणियों और रत्नों की सर्वत्र प्रदर्शनी लग गई।

उसे जब रत्नों की आवश्यकता होती, तो वह समुद्रों में नहाँ

जाता। सातों समुद्र स्वयं अपनी तरङ्गों से अपनी पत्नी नदियों के द्वारा उसके समीप विविध रत्न पहुँचा देते। समुद्र उसे स्वयं रास्ता दे देते। वृक्ष उसके लिये बिना माँगे सब ऋतुओं में स्वादिष्ट पके फल देते। पर्वत अपनी गुफाओं को मणिजटित बना देते, कि कहीं विहार करने देवाङ्गनाओं के साथ वह असुर न चला आवे। सारांश कि सभी जड चेतन उसके तेज से भयभीत होकर अनुकूल उसके आचरण करने लगे। संसार में वह जो भी उचित अनुचित करता, किसी का साहस नहीं होता था, कि कोई उसका विरोध करे। वह अकेला ही सभी लोकपालों के विभिन्न गुणों को स्वय ही धारण करता था। इन्द्र बनकर स्वयं वर्षा करता। कुवेर बनकर समस्त धनों का आधिपत्य करता। यम बनकर दण्ड देता वरुण बनकर जलचरों पर शासन करता।

यद्यपि उसे सुख थे, तीनों लोको के भोग उसे यथेष्ट मात्रा में प्राप्त थे। संसार के समस्त धन, धान्य, वाहन, स्त्रियों और शब्द, रूप, रसगन्ध और स्पर्शजन्य विपयों का एकमात्र स्वामी था, त्रिभुवन का एक छत्र सम्राट् और लोकपालो का भी अधीश्वर था, फिर भी विषयों से सदा अतृप्त ही बना रहता था। भोगो से उसकी तृप्ति नहीं होती थी। शास्त्रकारो ने सत्य ही कहा है, कि अजितेन्द्रिय को कितनी भी भोग सामग्री मिल जाय, वह सदा अशान्त तथा अतृप्त ही बना रहेगा।

नारदजी कहते हैं—"धर्मराज! संसारी किसी भी प्राणी को इतना बल, इतना ऐश्वर्य ऐसा प्रभाव, इतनी भोग सामग्री किसी भी प्रकार प्राप्त हो नहीं सकती। यह तो प्रभु का प्रिय

पार्षद ही था। विप्र शाप के कारण असुर योनि में उत्पन्न हो गया था। इसीलिये उसका सामना कोई कर नहीं सकता था। इस प्रकार ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए उस असुर के बहुत से वर्ष संसारीसुखोपभोगों में ही व्यतीत हो गये।"

छप्पय

शतक्रतु दयो निकारि इन्द्र बनि सुख सब भोगे।
इन्द्र भवन महँ बसै स्वर्ग को वैभव भोगे॥
मरकत मनि की भूमि बनी सीढ़ी विद्रुम की।
नन्दनकानन कल्पवृक्ष वर गंध कुसुम की॥
दुग्ध फेन सम स्वच्छ मृदु, शैय्या वर वाराङ्गना।
तऊ तृप्ति नहिं असुर की, नित नव बाढ़ै कामना॥

दुखित देवों पर दीनबन्धु की दया

(५९)

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

सुर नर वाके उग्र दण्ड तें दुखित भये जब ।
अन्य शरन नहिँ लखी गये हरिकी शरननहिँ सब ॥
क्षीर सिन्धु ढिँग जाइ करें मिलि के सुर तप अति ।
जहाँ लगावें लेट शेष शैय्या पै श्रीपति ॥
अन्न खाँय नहिँ पियें जल, तजि निद्रा निशि दिन जगे ।
वायु पान करि विष्णु को, आराधन करिबे लगे ॥

भगवान् का एक रूप है काल। काल स्वरूप कृष्ण जब जैसा चाहते हैं तब तैसा काल उपस्थित कर देते हैं। कभी सात्विक काल कभी राजस् काल और कभी तामस काल के रूप में वे ही कसारि क्रीड़ा करते हैं। उनके लिये न कोइ अपना

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु के उग्र दण्ड से सम्पूर्ण लोक तथा लोकपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गये । उन्हें अन्य कहीं शरण न मिली, तो शरणागतवत्सल श्रीहरि की शरण में गये।"

है न पराया। धर्म अधर्म सभी उन्हीं के अङ्ग में हैं, सभी उन्हीं की इच्छा से होते हैं। जब धर्म निर्बल हो जाता है, तब अधर्म की वृद्धि होने लगती है बड़े बड़े दुष्कृति प्राणी इस पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। वे सब दुष्ट उत्पन्न होकर साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाते हैं। उन दुष्टों के विनाश के निमित्त और साधु जनों के परित्राण के निमित्त तथा धर्म की पुनः संस्थापना करने के लिये स्वयं साक्षात् श्री हरि अवतरित होते हैं। तब वे अधर्म को दबाकर धर्म की वृद्धि करते है। अधर्म का जड़मूल से नाश ही कर देते हैं सो बात नहीं। यदि अधर्म का अस्तित्व ही मिटा दें तब तो उसकी कमर ही टूट जाय। तब तो यह संसार चक्र चले ही नहीं। फिर तो सदा विशुद्ध सत्ययुग ही बना रहे, त्रेता द्वापर तथा कलि कभी आवे ही नहीं। अधर्म भी अपने स्थान में रहता है और धर्म भी जब अधर्म अपनी मर्यादा को उन्हीं की इच्छा से अतिक्रमण कर जाता है। तब उसे वे ही स्वयं मर्यादा मे लाते हैं। जब तक देवता अपने आपे मे रहते हैं, तब तक वे उनकी रक्षा करते हैं। जब असुरो की वृद्धि का समय आ जाता है, तब बली असुर देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ देते हैं बेचारे देवता इधर से उधर मारे मारे फिरते रहते हैं। भगवान् क्षीर सागर मे शेष की शैय्या पर तान दुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मीजी अपने अत्यन्त गुदगुदे उरूओं पर उनके पावन पादपद्मों को रखकर अपने अत्यन्त ही कोमल कर कमलोंसे उनके तलुओं को सुहराती रहती हैं। योगनिद्रा का आश्रय लेकर रमा-रमण श्रीकान्त खुर्राटे भरते रहते हैं। कोई कितना ही चिल्लाओ पुकारो उठते ही नहीं, पड़े पड़े ही कह देते हैं—"काल की प्रतीक्षा करो।" इससे सिद्ध यही हुआ कि बली अबली बनाने वाला काल ही है और काल कोई अन्य वस्तु नहीं। वे कृष्ण ही काल

स्वरूप हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु तो भूमि, स्वर्ग तथा पाताल तीनों लोकों का एकछत्र शासक बन गया था। देवताओं का वह स्वभाव से द्वेषी था। उसकी दृढ धारणा थी, कि मेरे भाई को विष्णु ने देवताओं के कहने से ही मारा है। ये देवता और विष्णु ही असुर कुल के कंटक हैं। ये ही असुरों की वृद्धि नहीं देख सकते, अतः जैसे हो सके तैसे इनका ही विनाश करना चाहिये। यह सोचकर वह साधारण प्रजाओं का तो प्रेम पूर्वक पालन करने लगा। उन्हें तो सब इच्छित पदार्थ देने लगा, किन्तु देवताओं को वह बहुत दुख देता। उनके साथ विषम व्यवहार करता। इन्द्र, वरुण, कुवेर आदि लोकपालों के साथ वह कठोरता करता, उनसे झाड़ू लगवाता। सर्वदा उनका अपमान करता। त्रिलोकी को छोड़ कर वे जायँ भी तो कहाँ जायँ। हिरण्यकशिपु से कोई बली होता तो उसके समीप जाकर अपना दुख रोते, विपत्ति की बातें सुनाते, किन्तु वह तो सब का अधीश्वर बना हुआ था। देवता एक बार लुक छिपकर ब्रह्माजी के पास गये और दीन होकर बोले—"भगवन्! इस हिरण्यकशिपु को किसी प्रकार मारिये। यह हमें अत्यधिक कष्ट दे रहा है।"

यह सुनकर अपनी भूरी भूरी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए ब्रह्मा जी बोले—"भैया! मुझे सब पता है। किन्तु में स्वयं बड़े धर्म संकट में पड़ा हूँ। अपने हाथ से विष का भी वृक्ष लगाकर बुद्धिमान् पुरुष उसे स्वयं नहीं काटते। मैंने ही तो उसे इतने बड़े बड़े दुर्लभ वर दिये हैं। अब में ही कैसे उसे मार सकता हूँ। फिर मारने का काम मेरा नहीं। में तो पैदा करना, वरदान देना ही जानता हूँ। मारने का काम तो रुद्र देव का है उनके

समीप जाओ ।"

हताश होकर देवता रुद्रदेव के समीप गये। सब आदि से अन्त तक कथा सुनाई। सुनकर कामारि कपर्दी बोले—"देखो भाई ! मेरा किसी से राग द्वेष तो है ही नहीं। मैं बिना बात बैठे ठाले किसी को मारता रहूँ यह बात तो है नहीं। जब जिसका का आ जाता है। मैं उसका सहार कर देता हूँ। फिर मैं ब्रह्मा जी की सृष्टि से बाहर तो हूँ नहीं। उनका पुत्र ही ठहरा। जब मेरे पिता ने उसे वर दिया है, कि तुम मेरी बनाई सृष्टि के द्वारा न मरोगे, तो मैं अकाल मे उसे कैसे मार सकता हूँ और कैसे पदच्युत कर सकता हूँ ?"

दोनो देवो की ऐसी बातें सुनकर देवताओं को बडी निराश हुई। किसी ने भी उन्हे शरण नहीं दी। किसी ने भी दया करके उनके दुख को दूर करने को आशा नहीं दिलाई। जब वे सब ओर से निराश हो गये। जब उन्हे अन्यत्र कहीं भी शरण न मिली, तब वे अशरणशरण शरणागतवत्सल भगवान् वासुदेव की शरण गये।

भगवान उन दिनो क्षीरसागर में शेष शेया पर शयन कर रहे थे। विपत्ति के मारे देवता क्षीर समुद्र, इक्षु, समुद्र, सुरा समुद्र, और घृत समुद्र को लॉघकर क्षीर समुद्र के तट पर पहुँचे चारों ओर उन्होने आँखें फाड फाडकर भगवान् को देखा। तो भी उन्हें न शेपशैया दीखी और न उसके ऊपर शयन करने वाले शेष शायी श्री हरि ही के दर्शन हुए। जिनके मन मे राग द्वेष भरा है, उनको भगवान के दर्शन कैसे हो सकते हैं ? भगवान् के दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। अनन्य भाव से उन्हीं की शरण में जाय कृपा करके वे ही अपना ले, तभी उनके दर्शन सभव हैं

देवताओं ने जब वहाँ श्री हरि को नहीं देखा तो समुद्र के किनारे ही आसन जमाकर वे घोर तप करने लगे। वैसे तो दूध के समुद्र का किनारा ही था यथेष्ट दूध पीते चरु बनाकर अग्नि द्वारा उसे उड़ाते, किन्तु फिर भगवान् के दर्शन कैसे होते, विपत्ति से कैसे छूटते, अतः वे भोजन पान सभी का परित्याग करके केवल वायु भक्षण करके घोर तप करने लगे।

भगवान् तो सो ही रह थे। हिरण्यकशिपु की ओर से उन्होंने आँखें जानबूझकर बन्दकर ली थीं। जब देवताओं ने भगवान् के द्वार पर ही *धारणा दिया। उनके घर पर ही अनशन आरम्भ* कर दिया। तो भगवान् क्या करते ? दया सागर ही ठहरे अपने दयालुस्वभाव से विवश थे। किन्तु हिरण्यकशिपु का काल समाप्त नहीं हुआ था। उसके पाप पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे थे असमय मे वे किसी का सहार कैसे करते। देवताओं को भी आश्वाशन देना था अभी नींद भी पूरी नहीं हुई थी। योगनिद्रा उनके आश्रय मे पडी थी। अत शैय्या पर लेटे लेटे ही वहीं से आँखें बन्द किये ही भगवान् देवताओं को आश्वाशन देने लगे। उन्हे दर्शन इसलिये नहीं दिये कि अभी इन्होने अपने किये का पूर्ण प्रतिफल प्राप्त नहीं किया है। अभी ये दर्शनों के अधिकारी नहीं हुए। अभी में इन्हे दर्शन दे दूँ और सम्मुख आने पर सकोच मे पड जाऊँ तो असामयिक कार्य हो जायगा जिसे मैं कभी करता नहीं देवता बारबार कह रहे थे—"हम श्रीहरि तो दिखाई देते नहीं, हम उस दिशा को ही नमस्कार करते हैं जिस जिस दिशा मे चरा चर जगत् के ईश्वर सर्वात्मा श्री हरि निवास करते हैं। जिन्हें प्राप्त करके निर्मल शान्त सयासी गण पुन. नहीं लौटते।"

भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, जो मुझे जिस भाव से प्राप्त

होते हैं, उन्हें मैं उसी भाव से भजता हूँ। देवताओं को अकस्मात् एक दिन मेघ के समान गम्भीर आकाशवाणी सुनाई दी। वह साधुओं को अभय प्रदान करने वाली थी और जिसके गंभीर घोष से दशों दिशायें गुंजायमान हो गई थीं। आकाशवाणी के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे। वह आकाशवाणी कह रही थी "हे देवताओ! तुम सब का कल्याण होगा, तुम डरो मत निर्भय हो जाओ। निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सो जाओ।"

हाथ जोड़ कर इन्द्र ने उसी दिशा को प्रणाम करके कहा—"महाराज, भय का कारण उपस्थित होने पर भय होता है। हम तो इस अधम असुर के उत्पातों से अत्यधिक आकुल हो रहे हैं। अधीर होकर ही आप अशरण शरण की शरण में आये हैं।"

आकाश वाणी ने कहा—"कोई बात नहीं, भय प्राणियों को तभी तक होता है, जब तक वे मेरी शरण नहीं आते। जो मेरी शरण आ गये, जिन्हें मेरे दर्शन हो गये उनके सब दुख दूर हो गये। मेरा दर्शन प्राणियों के लिए सब प्रकार के मङ्गलों का साधन है।"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वह दुष्ट हिरण्यकशिपु हम से पानी भराता है, झाड़ू लगवाता है, हमारे यज्ञ भाग को भी खा जाता है, भाँति भाँति की विविध यातनायें देता है और हम सबको अ......।

बीच में ही आकाश वाणी ने कहा—"भाई, मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है। मुझे उस अधम दैत्य की सम्पूर्ण

दुष्टता का पता है। मैं उसकी सभी चौकडी भुला दूँगा, उसके गर्व को खर्व कर दूगा।"

दीनता के स्वर मे अधीर होकर देवताओं की ओर से इन्द्र ने कहा—'कब कर दोगे महाराज! अब तो ये दु ख सहे नही जाते। सहनशीलता की भी सीमा होती है।"

आकाशवाणी ने कहा—"अभी उसके विनाश का समय नहा है, इसीलिय मैं अभा कुछ नहा कर सकता। जैसे इतने दिन सहन किया है, कुछ काल और भी सहन करो। समय आते ही मैं इसका चकनाचूर कर दूँगा। इसे यम सदन का अतिथि बना दूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! वह समय कब आवेगा। कैसे जाने कि अब इसके विनाश का समय सन्निकट आ गया है।"

आकाशवाणी ने कहा—"देखो, जब कोई प्राणी अकारण ही देवताओं से द्वेप करने लगे, देवताओं की पूजा बद करदे, देव की निन्दा करने लगे, गौओं को दु ख दे, उन्हें पीडा पहुँचावे। ब्राह्मणों को हृदय से शत्रु समझे, उनका प्रभाव घटाने को सतत प्रयत्न करता रहे, उनके हृदय से द्वेप करने लगे। साधुओ म अश्रद्धा कर, उन्हे अवाच्य वचन बोले, धर्म को अवनति का कारण मानने लगे, धर्म से च्युत हो जाय तथा मुझ जगदीश्वर से विद्वेप करने लगे, तब समझना चाहिये वह शीघ्र ही नष्ट होने वाला है।"

इन्द्र ने कहा—"यह सब तो वह कर रहा है ।"

भगवान् ने कहा—"कर तो रहा है, किन्तु अभी पूर्ण रूप से नहीं करता । अभी कुछ कमी है । थोड़े पाप से शीघ्र विनाश नहीं होता । यों करने को तो ऐश्वर्य के मद में भरे तुम भी ये सब काम करते थे । सत्य पूछा जाय तो तुम अपनी करनी से ही अपने पद से च्युत हुए । असुर भी उपदेव हैं, उनसे तुम द्वेष करते ही हो, उन्हे नीचा दिखाने को भाँति २ के प्रयत्न करते हो । कभी कभी पाखंडमत का आश्रय लेकर तुम भी देव विरुद्ध आचरण करने लगते हो । पृथु के यज्ञ में पाखंड मत का तुमने ही प्रचार किया । देव विरुद्ध नास्तिकों का सा रूप तुमने ही धारण किया था । श्री कृष्णावतार में तुमने ऐश्वर्य के मद में भर कर मेरी गौओं का नाश करने के लिये सावर्तक मेघों को तुमने ही प्रेरित किया था । गो वंश का विनाश करने का तुमने संकल्प किया था । विश्वरूप ब्राह्मण ही था, उसका असावधानी में तुमने ही सिर काटा था । साधुओं की तपस्या भंग करने तुम सदा ही स्वर्ग से सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें, वसंत, कामदेव आदि को भेजते रहते हो । अपने स्वार्थ के लिये धर्म की भी अवहेलना कर देते हो । मैंने शिक्षा देने को ब्रज में तुम्हारा यज्ञ बंद किया था, इससे तुम मुझे बुरा भला कहने लगे थे मुझसे द्वेश करने लगे थे । सब के सब पाप तुमने भी किये हैं, किन्तु अंतर इतना ही है, कि तुमने ये सब विवश होकर कम मात्रा में किये हैं । करके पश्चात्ताप किया है

और पापो का प्रायश्चित भी किया है। इससे तुम्हारा विनाश नहीं हुआ है। तनिक विपत्ति आकर ही भोग समाप्त हो गये हैं। जब इस हिरण्यकशिपु के ये पाप पराकाष्ठा पर पहुँच जायँगे। तब मैं इसे तुरन्त मार डालूँगा। इसमें कोई सदेह नहीं।

इस पर देवताओं ने कहा—"भगवन्! पाप पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं, उसे कैसे जाने? उसकी कोई मोटी-सी पहिचान वता दे।"

यह सुनकर आकाशवाणी ने कहा—"देखो, पापो के पराकाष्ठा पर पहुँचने की मोटी पहिचान यही, कि जब मनुष्य भगवद् भक्तो से व्देष करने लगे। भगवान् के भक्तों से व्देष साधारण पापी नहीं कर सकता। जो महापापी होगा, जिसके पाप सीमा को पार कर गये होंगे, वही भक्तो का अनिष्ट सोचेगा, वही उनसे व्देष करके उन्हें यातना देगा। मै वडे वडे पापो को क्षमा कर सकता हूँ। मेरा भी कोई अपराध करे, तो उसे भी छोड सकता हूँ, किन्तु भक्तापराधी को मैं कभी क्षमा नहीं कर सकता। उसकी अवहेलना में नहीं कर सकता। जब जीव भक्तो से व्देष करने लगे समझना चाहिये इसके पापो का घडा भर गया।"

इस पर इन्द्र वोले—"भगवन्! हम सब आपके भक्त ही तो हैं, हमसे तो वह व्देष करता ही है।"

आकाशवाणी ने कहा—"भैया, तुम सव भक्त तो हो भक्ताग्रगण्य नहीं हो। जब यह भक्ताग्रगण्य से व्देष करेगा, उसे भाँति भाँति की यातना देगा, तब में इसे मार डालूँगा।"

इन्द्र ने पूछा—"महाराज ! भक्ताग्रगण्य, कहाँ उत्पन्न होगा, उसके साथ सभव है इसकी भेट न हो। क्योंकि भक्त तो दुष्टो से शक्ति भर बचे रहते हैं, उनके समीप यथाशक्ति नहीं जाते।' इस पर आकाशवाणी ने कहा—"भक्ताग्रगण्य बाहर कहीं न होगा। उसके घर मे ही उत्पन्न होगा। उसका चौथा पुत्र होगा प्रह्लाद। जब यह अपने भगवद्भक्त सगे पुत्र से द्वेष करेगा, तभी मैं इसे मार डालूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! मारेंगे कैसे आप ? इसे तो ब्रह्माजी से बडे बडे वर प्राप्त हैं।"

आकाशवाणी ने कहा—"इसकी तुम चिन्ता मत करो। ब्रह्माजी तो मेरे बच्चे ही हैं मैं तो उनकी सृष्टि से पृथक ही हूँ, अतः ब्रह्माजी के वर से तेजस्वी होने पर भी मैं उनके वरो की रक्षा करते हुए बडी तिकडम से इसका अन्त कर दूँगा। इसे मृत्यु के मुख मे डाल दूँगा।'

देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—'राजन् ! इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई। अब फिर वह सुनाई नहीं दी। उसी देववाणी को सुनकर देवताओं के सभी दुख दूर हो गये। उनका उद्वेग शान्त हो गया। उन्हे विश्वास हो गया। भवभयहारी भगवान हम भक्तो पर कृपा करेंगे। हमारे शोक सन्ताप को दूर करेंगे। अभी जितने समय का दुःख शेष है उसे सहें, अब दुख की सीमा तो ज्ञात हो गई। अब तो हमें भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करनी चाहिये यह ससार आशा के ही ऊपर अवलम्बित है। जहाँ भक्तवर

प्रह्लादजी का जन्म हुआ, तहाँ हमारा सभी दुख मिट जायगा। हिरण्यकशिपु की स्त्री गर्भवती तो है ही। नारदजी से हमें यह समाचार मिल गया ही है, कि उसके गर्भ में भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी हैं।" यही सब सोचकर वे निश्चिन्त हो गये। उन्होंने समझ लिया कि अब तो यह हिरण्यकशिपु मर ही गया। केवल अंतिम साँसें ले रहा है। यह सोचकर वे अपने अपने स्थानों को चले गये।

छप्पय

कछुक काल महँ तहाँ भई सहसा नभ बानी।
देव दुखित मति होहु बात मैंने सब जानी॥
वेद, देव, गो, विप्र साधु सन द्वेष करे जन।
मो ते बाँधे वैर असुर सहार करूँ तब॥
शान्त दान्त निर्वैर सुत, भक्त वीर प्रह्लाद मम।
मारूँ तब हौं तुरत ही, देइ यातना जब अधम॥

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी

(४६०)

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

नभवानी सुनि देव लौटि निज निज घर आये ।
हिरनकशिपु ने देव भक्त इत अधिक सताये ॥
चौथे ताको पुत्र अवस्था मह छोटो अति ।
किन्तु भक्ति महँ श्रेष्ठ आसुरी नहिँ जाकी मति ॥
विद्या, कुल धन रूप को, जाके नहिँ अभिमान चित ।
सुहृद सदाचारी सरल, सब सद्गुन जामे निहित ॥

समस्त सद्गुण वहाँ स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं, जहाँ भगवान् की भक्ति हो। भक्ति समस्त गुणों की खानि है। सद्गुण भक्ति के आश्रय से रहते हैं। अभक्तों के गुण

श्री नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! उस दैत्य राज हिरण्यकशिपु के अद्भुत चार पुत्र थे। उन सबमें प्रह्लादजी छोटे होने पर भी गुणों म महान् थे। वे साधु महात्माओं की सेवा करने वाले थे।"

कहाँ ? वे तो मनके पीछे दौड़ने वाले होते हैं। मनकी स्वाभाविक रुचि विषयों मे है। विषय दुःख के मूल हैं, अतः अभक्त के अजितेन्द्रिय के समीप सद्‌गुण कैसे रह सकते हैं। वह तो सदा अशान्त, चिन्तित और दुखी बना रहता है। भक्त सदा प्रसन्न-चित्त बना रहता है, वह सद्‌गुणों के लिये प्रयत्न नहीं करता। वह तो निरन्तर भगवद्भक्ति मे ही तल्लीन बना रहता है। सद्‌गुण आकर स्वयं ही उसके स्वच्छ हृदय में निवास करते हैं।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन ! हिरण्यकशिपु के सह्लाद, अनह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद ये चार पुत्र थे। इनमे प्रह्लादजी अवस्था मे सबसे छोटे होने पर भी गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। बाल्यकाल से ही सरल, सुशील और अत्यन्त ही नम्र थे। उन्हें छोटे से छोटा भी ब्राह्मण मिल जाता, तो उसे भी वे श्रद्धा सहित प्रणाम करते। सदाचार की तो वे सजीव साकार मूर्ति ही थे। खेल खेल मे कभी किसी से किसी कार्य के लिये कह देते, तो शक्ति भर, प्राण रहते, उस प्रतिज्ञा का पालन करते। कभी हँसी मे भी भूल में भी झूठ नहीं बोलते थे। वे अपनी सभी इन्द्रियों को अपने वश में किये रहते थे। इन्द्रियाँ उनके अधीन थीं, वे इन्द्रियों के अधीन नहीं थे। वे सभी प्राणियों मे आत्मभाव रखते थे। हमे कोई कुवाक्य कह दे, तो कष्ट होता है। इसलिये वे कभी भी किसी को कड़वे वचन नहीं कहते थे। जैसे हमारा कोई सम्मान करे, तो हमें उसके शील स्वभाव से प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार वे भी सबका आदर करते थे। वे सभी के प्रिय

थे, न वे स्वयं किसी से द्वेष करते थे न दुष्टों को छोड़कर अन्य कोई भी उनसे द्वेष रखता था। वे सबके प्यारे दुलारे थे। जिनके संसर्ग में वे आते थे, वे सभी उन्हें अपना सुहृद् समझते थे। साधु सन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषों और भगवद्भक्तों के चरणों में दूर से ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगते। वे सदा विनीत बने रहते। जो अपने से छोटे दीन, दुखी तथा अनाथ होते उन पर पिता की भाँति स्नेह करते, यथा शक्ति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। उनके दुःखों को दूर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते। जो अपने बराबर वाले होते, उनसे सगे सहोदर भाई के समान प्यार करते। यह अभिमान कभी मनमें नहीं लाते कि हम राजा के पुत्र हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, सम्पन्न हैं अपने से छोटे लोगों के साथ कैसे मिलें। बराबर वालों को यह प्रतीत ही नहीं होता था, कि ये राजकुमार हैं, हम इनकी प्रजा हैं। वे उनमें ऐसे घुलमिल जाते कि सभी साथी इन्हें अपना सहोदर भाई ही समझते। अपने से जो विद्या में, तप में तेज में, गुणों में बड़े होते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करते। उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करते और उनमें आदरबुद्धि रखते।

वे जन्म से ही विद्वान् थे। बिना पढ़े ही उन्हें सब विद्यायें आती थीं। किन्तु विद्या का मद छू भी नहीं गया था। धन के लिये तो पूछना ही क्या, राजपुत्र ही ठहरे। ऐसे वैसे राजा के पुत्र नहीं। उस हिरण्यकशिपु के प्यारे पुत्र थे, जिसने तीनों लोकों को अपने बाहुबल से जीत लिया था। जिसके नाम से इन्द्रादि लोकपाल थर थर काँपते थे। संसार के समस्त बहुमूल्य रत्न जिसके भवन में एकत्रित थे, उस इतने भारी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट् के सुत होने पर भी उन्हें धन का अभि-

मान छू भी नहीं गया था। देखने मे वे कामदेव के समान सुन्दर थे। उनके सभी अङ्ग-प्रत्यग सुन्दर, सुडौल सुगठित और जैसे उतार चढ़ाव के होने चाहिए, वैसे थ। उन्हे जो भी एक बार देख लेता वही मुग्ध हो जाता। इतने अधिक सुन्दर होने पर भी उन्हे रूप का तनिक भी गर्व नहीं था। वे अपने को साधारण जनो के समान समझते थे। वे महर्पि कश्यप के कुल में उत्पन्न हुए थे। फिर भी उन्हें अपने कुलीन होने का अभिमान नहीं था। साधारण दैत्य बालकों के साथ हँसते खेलते और उन्हीं मे घुल मिल जाते थे। किसी बात का उन्हें न गर्व था न अभिमान।

प्रह्लाद जी बड़े धैर्यशाली थे। किसी भी दुर्घटना तथा विपत्ति को देखकर वे घबाराते नहीं थे। उन्हें शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्शजन्य सासारिक सुखों की तनिक भी स्पृहा नहीं थी न वे यही चाहते थे कि उन्हें स्वर्गीय सुख, विमान, नन्दन कानन मे विहार, अप्पसरायें तथा पान करने को अमृतादि पदार्थ प्राप्त हों। इन सभी सुखो से वे सदा उदासीन बने रहते थे। वे सिद्ध ही कहे जा सकते थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, प्राण, मन और शरीर सभी सयत थे। वे कामनाहीन, निष्काम और ससारी पदार्थों से निर्लिप्त थे। अधिक क्या कहें यही कहना पर्याप्त होगा, कि वे असुर होने पर भी आसुरीभावो से सर्वदा रहित थे।

प्रह्लाद जी की देवर्षि नारद के मुख से इतनी प्रशसा सुनकर

थे, न वे स्वयं किसी से द्वेष करते थे न दुष्टों को छोड़कर अन्य कोई भी उनसे द्वेष रखता था। वे सबके प्यारे दुलारे थे। जिनके संसर्ग में वे आते थे, वे सभी उन्हें अपना सुहृद् समझते थे। साधु सन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषों और भगवद्भक्तों के चरणों में दूर से ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगते। वे सदा विनीत बने रहते। जो अपने से छोटे दीन, दुखी तथा अनाथ होते उन पर पिता की भाँति स्नेह करते, यथा शक्ति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। उनके दुःखों को दूर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते। जो अपने बराबर वाले होते, उनसे सगे सहोदर भाई के समान प्यार करते। यह अभिमान कभी मनमें नहीं लाते कि हम राजा के पुत्र हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, सम्पन्न हैं अपने से छोटे लोगों के साथ कैसे मिलें। बराबर वालों को यह प्रतीत ही नहीं होता था, कि ये राजकुमार हैं, हम इनकी प्रजा हैं। वे उनमें ऐसे घुलमिल जाते कि सभी साथी इन्हें अपना सहोदर भाई ही समझते। अपने से जो विद्या में, तप में तेज में, गुणों में बड़े होते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करते। उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करते और उनमें आदरबुद्धि रखते।

वे जन्म से ही विद्वान थे। बिना पढ़े ही उन्हें सब विद्यायें आती थीं। किन्तु विद्या का मद छू भी नहीं गया था। धन के लिये तो पूछना ही क्या, राजपुत्र ही ठहरे। ऐसे वैसे राजा के पुत्र नहीं। उस हिरण्यकशिपु के प्यारे पुत्र थे, जिसने तीनों लोकों को अपने बाहुबल से जीत लिया था। जिसके नाम से इन्द्रादि लोकपाल थर थर काँपते थे। संसार के समस्त बहुमूल्य रत्न जिसके भवन में एकत्रित थे, उस इतने भारी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट् के सुत होने पर भी उन्हें धन का अभि-

मान छू भी नहीं गया था। देखने मे वे कामदेव के समान सुन्दर थे। उनके सभी अङ्ग-प्रत्यंग सुन्दर, सुडौल सुगठित और जैसे उतार चढ़ाव के होने चाहिए, वैसे थ। उन्हें जो भी एक बार देख लेता वही मुग्ध हो जाता। इतने अधिक सुन्दर होने पर भी उन्हें रूप का तनिक भी गर्व नहीं था। वे अपने को साधारण जनों के समान समझते थे। वे महर्षि कश्यप के कुल मे उत्पन्न हुए थे। फिर भी उन्हें अपने कुलीन होने का अभिमान नहीं था। साधारण दैत्य बालकों के साथ हँसते खेलते और उन्हीं मे घुल मिल जाते थे। किसी बात का उन्हें न गर्व था न अभिमान।

प्रह्लाद जी बड़े धैर्यशाली थे। किसी भी दुर्घटना तथा विपत्ति को देखकर वे घबराते नहीं थे। उन्हें शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्शजन्य सासारिक सुखों की तनिक भी स्पृहा नहीं थी न वे यही चाहते थे कि उन्हें स्वर्गीय सुख, विमान, नन्दन कानन मे विहार, अप्सरायें तथा पान करने को अमृतादि पदार्थ प्राप्त हों। इन सभी सुखों से वे सदा उदासीन बने रहते थे। वे सिद्ध ही कहे जा सकते थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, प्राण, मन और शरीर सभी सयत थे। वे कामनाहीन, निष्काम और ससारी पदार्थों से निर्लिप्त थे। अधिक क्या कहें यही कहना पर्याप्त होगा, कि वे असुर होने पर भी आसुरीभावों से सर्वदा रहित थे।

प्रह्लाद जी की देवर्षि नारद के मुख से इतनी प्रशंसा सुनकर

धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"भगवान्! बड़ा आश्चर्य है, कि एक असुर कुल मे उत्पन्न वालक मे जन्म से ही ऐसे गुण हो। उनमे ये इतने गुण किस साधन से कैसे आ गये ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! मैं पहिले वता तो चुका हूँ। ये सब गुण किसी साधन से प्राप्त नहीं होते। उनकी ही कृपा से कोई कोई उन्हे प्राप्त कर सकता है देखिये, प्रह्लादजी को हुए कितने वर्ष हो गये। लाखों करोडों वर्ष बीत गये, फिर भी उनके गुण, उनकी विमल कीर्ति पृथ्वी पर अभी तक ज्यों की त्यो वनी है और सदा ऐसी वनी रहेगी। भगवान् में और भगवान् के भक्तों मे कोई भेद नहा होता। जैसे भगवान् के गुण नित्य हैं वैसे ही भक्तों के गुण भी नित्य हैं। प्रह्लादजी के महान् गुणों का स्मरण करके पडितजन आज तक उनका अनुकरण करके भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। राजन्! प्रह्लादजी के गुणों के सम्बन्ध में अव मैं आप से क्या कहूँ। शेष जो की भाँति मेरे भी सहस्रों जिह्वाय होतीं, तो भी मैं प्रह्लादजी के गुणो का वर्णन नहीं कर सकता था। फिर अव तो मेरे एक ही जिह्वा है। महाराज! उनके गुणों की महत्ता इसी से समझ ल, कि देवता उनके प्रतिपक्षी हैं, किन्तु जहाँ उनके समाज मे भी भगवद्भक्ति का प्रसङ्ग चलता है, वहाँ उदाहरण मे प्रह्लादजी का ही दृष्टान्त दिया जाता है, उन्हीं के गुणों का अनुकरण किया जाता है। इस विषय मे प्रह्लादजी का क्या मत है, उन्होंने ऐसे अवसर पर कैसे आचरण किया

था, ये बातें देवसभा मे प्रमाण के रूप मे उपस्थित की जाती हैं और प्रह्लादजी का आचरण आदर्श रूप मे माना जाता है। जिनका इतना आदर जब शत्रु करते हैं, तो आप जैसे निर्वैर अजातशत्रु उनका आदर करें, उनके आचरण को प्रमाणभूत मान ले, तो इसमे आश्चर्य की ही कौन सी बात है।

प्रह्लादजी का प्रभाव अनन्त है, उनके गुण अनन्त हैं। उन सबका तो अनंतकाल तक वर्णन करते रहे, तो भी पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। संक्षेप मे यही कहना यथेष्ट होगा, कि उनकी भगवान् वासुदेव मे सहज स्वभाविकी प्रीति थी। ये गुण तो केवल निर्देश मात्र किये हैं। इन गुणो से ही उनका माहात्म्य सूचित होता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! प्रह्लादजी भक्तो के प्रतीक हैं। भक्तिशास्त्र मे भक्तो के जो जो गुण, जो जो आचरण, जैसे उनकी रहना सहनी वर्णन की है, ये सब एक मात्र प्रह्लादजी के देह मे प्रकट हुये। उनकी रहनी से ही भक्तो का रहनी, उनके व्यवहार से ही भक्तों के व्यवहार जाने जा सकत हैं। अतः अत्यन्त संक्षेप मे, सकेत रूप से मैं उनकी रहनी सहनी और मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कराऊँगा। क्योकि भक्तिमार्ग के पथिको को इससे बड़ा सहारा मिलेगा। वे इन बातों को समझकर अपने जीवन मे भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिये रो रोकर प्रभु से प्रार्थना करेंगे। प्रभु तो वांच्छा कल्पतरु

ही ठहरे। उनसे तो जो भी जिस वस्तु को हृदय से माँगता है,उसे वही दे देते हैं। अतः आप संक्षेप में प्रह्लादजी की बाल्यकाल की रहनी सुन लीजिये।

छप्पय

सुख दुख महँ सम सदा सत्व स्वाभाविक जामें।
मिथ्या मायिक भोग होहिँ अनुरक्त न तामें॥
तन मन इन्द्रिय प्रान रखें नित अपने वश महँ।
स्वाभाविक ई प्रीति श्यामसुन्दर के यश महँ॥
सतत हिये महँ जरि रही, ज्योति प्रेम के जोग की।
भक्तिभावभावित हृदय, नहीं कामना भोग की॥

भगवद्भक्तों की दशा

(४६१)

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तथा ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोवि दपरिरम्भितः ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शत्रु मित्र को भाव कबहुँ मन महँ नहिँ आनें ।
जिनकी शुद्धाभक्ति निरखि सुर लोहो मानें ॥
सोवत जागत चलत उठत खावत अरु पीवत ।
रहें अनमनेमने सबनि खिरीं से दीखत ॥
गावें नाचें प्रेमतें, हृदय सदा श्रीहरि बसें ।
कृष्ण भूत सिर पै चढ्यो, कबहूँ रोवें पुनि हँसे ॥

जब जीव प्रकृतिस्थ होता है, अपने जीव स्वभाव में स्थित

❀ श्री नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! बालक होने पर भी प्रह्लादजी ने खेल कूद को छोड़ दिया था हरि ध्यान में तन्मय हो जाने के कारण वे जड़वत् बन जाते थे । उनके मन को कृष्ण रूप

रहता है, तब उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान रहता है। वह यथावत् क्रिया करता है। शिष्टता से व्यवहार करता है, लोकमर्यादा का पालन करता है, किन्तु जब उसके ऊपर कोई भूत, प्रेत, पिशाच या अन्य ग्रह का आक्रमण हो जाता है तो वह अपने स्वभाव को छोड़कर अंट संट व्यवहार करने लगता है। उसके ऊपर चढ़ा ग्रह जो कराता है करता है। जैसे आचरण अपनी प्रकृति में रहकर करता था, उससे विलक्षण ही आचरण वह करने लगता है।

श्री नारदजी राजा परिक्षित् से कह रहे हैं—"राजन! महाभागवत प्रह्लाद जी का स्वभाव जन्म से ही अलौकिक था प्रायः बालकपन में सभी को खेल अत्यंत प्रिय होता है, किन्तु प्रह्लादजी जब बालक थे, तभी से बड़े गम्भीर थे। वे गुल्ली डंडा, आँख मिचौनी, भड्डू, लभेरवंशी आदि जो बालकों के स्वाभाविक और प्रिय खेल हैं, उन्हें कभी भी नहीं खेलते थे। खेल मे भी वे गोपाल जी की मूर्ति बनाकर उनका पूजन अर्चन करते, भोग लगाते, प्रसाद बाँटते और सभी से रामधुनि कराते। वे एकान्त में जाकर भगवान् का ध्यान करते। भगवत् ध्यान मे ऐसे तन्मय हो जाते, कि यह जगत् काला है, पीला है या लाल है, इसके पदार्थ भोग्य हैं, इसमें यह प्रिय है यह अप्रिय है, इन बातों का उन्हें कुछ भी ज्ञान

ग्रह ने ग्रस लिया था। उन्हें यह ससार ऐसा दिखाई नहीं देता था जैसा ससारी लोगों को दीखता है। वे उठते, बैठते, घूमते, फिरते, खाते, पीते, सोते, जागते, बोलते, चालते—इन सब कामों को करते हुए भी इनके ज्ञान से शून्य बने रहते थे, क्योंकि वे मन से गोविन्द का आलिंगन करते रहते थे।"

न रहता। वे तो सम्पूर्ण जगत् को हरिमय निहारते। सभी में भगवद् बुद्धि करके सभी की वन्दना करते। वे सब कुछ स्वभावानुसार मन्त्र की भाँति बिना कुछ सङ्कल्प से क्रियाओं को करते रहते, किन्तु उनकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। जैसे हम स्वभावानुसार साँस लेते हैं, पलक मारते हैं खुजली होती है तो खुजाते हैं, उसी प्रकार शरीर से उनकी क्रियायें होती रहतीं। मन सदा मनमोहन की माधुरी में मत्त बना रहता। कभी चल रहे हैं, तो चले ही जा रहे हैं पागल सिर्री विरक्तों की भाँति कोई सङ्कल्प नहीं। कोई गन्तव्य लक्ष्य नहीं, कहीं पहुँचने का निश्चय नहीं। पैर अपने आप चले जा रहे हैं। जहाँ रुक गए, कब तक रुके रहे कुछ पता नहीं। बैठ गये, तो बैठे ही हैं, लेट गये तो लेटे ही हैं। माता प्रसाद दे दिया तो पा लिया, उसमें अच्छे बुरे, स्वादु अस्वादु, सरस नीरस का विवेक नहीं, विचार नहीं। जल मिल गया पी लिया। गाने लगे, तो भगवान् के मङ्गलमय मधुमय मधुर नामों को तथा उनके गुणों को गाते ही रहे। मौन हो गये तो प्रहरों समस्त इन्द्रियों को रोककर चुपचाप मौन ही धारण किये हैं।

कभी कभी चित्त में ग्लानि हो गई। हा! भगवन् वैकुण्ठ नाथ ने कहाँ लाकर मुझे इस भवाटवी में पटक दिया। जहाँ चित्त में यह चिन्ता चुभी वहीं हृदय हो गया। प्रियतम के विरह का अनुभव होते ही हृदय भर आया। आँखों से अश्रुओं का जो प्रवाह बहा कि फिर बहता ही रहता। दोनों नेत्रों से निरन्तर नेह का नीर निकल निकल कर उनके नवनीरद के समान श्री अंग को गीला बना देता।

हा ! श्यामसुन्दर मुझे संसार सागर में छोड़कर स्वयं छिप गये हैं, यह अनुभूति होते ही अश्रुधारा फूट पड़ती। वे प्रहरों रोते रहते, तड़पते रहते, आहें भरते रहते। इसके विपरीत कभी हृदय में भगवत् स्मृति जाग्रत हुई और हृदय से हृदय सर्वस्व जीवनधन अपने प्रेष्ठतम प्राणनाथ का संस्पर्श हुआ। उन्हें भावजगत् में आलिंगन कर लिया, तो उस संस्पर्श जन्य सुख का अनुभव करके खिल खिलाकर पागलों की भाँति हँस पड़ते। हँसते तो हँसते ही रहते। दूसरा देखने वाला इन्हें एकान्त में अकारण इतना हँसते देखकर पागल समझता और सोचता—"अवश्य ही इसे कोई मस्तिष्क सम्बन्धी रोग है।"

कभी कभी ऐसा होता कि मन में यह विचार उठता, हाय यह मेरी चामकी जिह्वा व्यर्थ ही मुख रूपी बिल में पड़ी रहती है, इसका मुख्य कर्तव्य तो है भगवद्गुणों का गान। इसे न करके यह दूसरे की निन्दास्तुति तथा परापवाद में ही लगी रहती है। इसकी सार्थकता तो कृष्णगुणगान में ही है, अहर्निश यह भगवान् के नामों का उच्चारण करती रहे, यही इसकी सफलता है। इसे मैं सफल बनाऊँगा ऐसा सोच कर लज्जा को त्याग कर भगवद्गुणगान में निमग्न हो जाते, प्रहरों भगवन्नाम कीर्तन ही करते रहते। बीच बीच में हुँकारी भरते, विह्वल होते, छटपटाते, रोते चिल्लाते उसी

आवेश में लोक लाज छोड़कर नाचने लगते। नाचते नाचते

उन्हें भगवद्भाव का आवेश आ जाता, तो भगवान् की मधुमय लीलाओं का अनुकरण करने लगते। कभी गोवर्धन को उठाने का अनुकरण करते, कभी गौयें चराने की लीला करते कभी धनुप वाण धारण करके राघव लीलाओं को दिखाते। कभी वनगमन की सी लीला करने लगते।

कभी कभी भगवद् ध्यान में ऐसे तल्लीन हो जाते, कि यह अनुभव करते, कि श्रीहरि मुझे अपने कर कमलों से उठाकर अपनी छाती से लिपटा रहे हैं। भगवान् के स्पर्श को पाकर उनका रोम रोम खिल जाता, सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो जाता वाणी रुद्ध हो जाती और प्रियतम के आलिङ्गन सुख से शरीर को शिथिल किये नेत्र बन्द किये अविचल भाव से बैठकर आनन्दाश्रुओं को बहाते रहते। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि दो मुदे हुए कमलों से ओस से कण झर झर झर झर, झर रहे हों।

उनकी दशा बहुत ऊँची हो गई थी। यह दशा कामी और विषयियों को प्राप्त होनी कठिन ही नहीं असम्भव है। यह तो निष्कञ्चन भगवद्भक्तों के निरन्तर के सहवास से, हृदय से की हुई भगवत् परिचर्या से, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से प्राप्त हो सकता है। जिसे ऐसी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह स्वयं तो तर ही जाता है, अपने समीपवर्ती अन्य सभी को तार देता है, वह तरणतारण बन जाता है। प्रह्लादजी अपनी बढ़ी हुई भगवद्भक्ति से अन्य कुसंगग्रस्त पुरुषों को बारम्बार शान्ति प्रदान करने लगे। उनके चित्त में भी आनन्द का स्रोत बहने लगे। उन्हें भी अपने उत्कट स्नेह से आह्लादित करने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहने लगे—राजन्! ऐसे भगवद्भक्त अनुरागी, साधु स्वभाव के पुत्र प्रह्लाद से भी उसके हरिद्रोही पिता हिरण्यकशिपु ने विरोध किया। यह विरोध अन्त यहाँ तक बढ़ा, कि भगवान् को नृसिंहावतार लेकर प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा।

इस बात को सुनकर आश्चर्य के साथ धर्मराज ने पूछा—"ब्रह्मन्! पिता ने अपने पुत्र से विरोध क्यों किया! यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है।

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन! इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है। विरोध पति पत्नी मे, भाई भाई मे, पिता पुत्र में, सगे सम्बधी में सभी मे हो जाता है।"

यह सुनकर धर्मराज बोले—"नही भगवन् मेरा अभिप्राय यह था, कि पुत्र कैसा भी हो, पुत्र ही है। अयोग्य, मूर्ख पुत्र के प्रति भी पिता माता का अनुराग, मोह होता है। यों शिक्षा के लिये डॉट डपट दे, यह तो दूसरी बात है, किन्तु उससे द्वेष करके उसे मार डालने का विचार करें, यह तो आश्चर्य की ही बात है। प्रह्लाद तो महात्मा ही थे। उनके सम्बन्ध मे अधिक मैं क्या कहूँ। जब आप तीनों लोको के वन्दनीय चौदहो भुवनों मे समान रूप से सम्मान पाने वाले भगवत् स्वरूप सत् जिनके गुणों का वर्णन करते-करते अघाते नही, उनकी महत्ता के विषय मे विशेष कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। ऐसे सरल सदाचारी धर्मात्मा पुत्र से उसके पिता ने ही द्वेष क्यों किया? इस विषय को सुनने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें, तो उसका कारण विस्तार

के साथ मुझे बतावें।

इस पर नारद जी ने कहा—"राजन! द्वेष का कारण है अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण। चाहे कितना भी निकटतम सम्बन्धी हो, यदि वह हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है, जिसके लिये हम मना करते हैं उसे हठ पूर्वक करता है, तो उससे विरोध ही हो जाता है। उसका हम कुछ अनिष्ट करने का प्रयत्न करते ही हैं। प्रयत्न करने पर भी हम उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, तब हमारे हृदय मे प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्व लित हो जाती है। हम उसका जैसे बने तैसे अधिकाधिक अनिष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। यही बात हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के सम्बन्ध मे हुई।"

यह सुनकर युधिष्ठिर जी ने कहा—"हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से क्या कराना चाहता था, किस बात के लिये मना करता था? फिर यह बात यहाँ तक कैसे बढ़ गई कि पिता ने पुत्र का वध करने के लिये द्रोह किया। ब्रह्मन्! इन सभी बातों को सुनाकर मेरे बढ़े हुए कुतूहल को शान्त कीजिये।',

इस पर नारदजी कहने लगे—"राजन्! सुनिये, अब मैं महा-भागवत प्रह्लाद जी का आरंभ से ही चरित्र सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार नारद जी ने धर्मराज को प्रह्लाद चरित्र सुनाया और जैसे मैंने अपने गुरुदेव

भगवान् शुक के मुख से महाराज परीक्षित् की सभा मे सुना था, उसे ही मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करे।

छप्पय

जिनकी लरिकें भक्ति सभी जन होहि सुरारे।
हिरनकशिपु हरि नाम सुनत फटकारे मारे॥
गुरुगृह भेजे पढ़न पढ का पढे पढाये।
राजनीति के दाव पेंच तिनि मन नहिँ भाये॥
पूछे इक दिन पुत्र तें, अक लाइ पुनि चूमि मुख।
सुत ! प्रिय ताकूँ का लगे, कौन काज तें होहि सुख॥

पिता पुत्र में मतभेद

(४६२)

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनाम्,
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्,
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

मुनि बोले प्रह्लाद-पिताजी ! बुरो न मानें ।
हम तो जग महँ भलो बात जाई कूँ जानें ॥
रहे सदा उद्विग्न चित्त घर दारा धन महँ ।
ताते तजि के मोह सवनि को जावे वन महँ ॥
यह अपनो यह परायो, अभि निवेश मिथ्या तजे ।
जग की आशा छोड़ि के, प्रेम सहित प्रभुकूँ भजे ॥

विरोध तब होता है, जब दो विभिन्न स्वार्थ एक स्थान मे आकर टकराते हैं। बहुत से लोग हैं, जो हमारे मत से सह-

---

❀ अपने पिता के पूछने पर प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे असुरवर्य ! जिन लोगों की बुद्धि अहंता ममता रूप अभिनिवे सदा उद्विग्न बनी रहती है, उनके लिये मैं यही सर्वश्रेष्ठ बात समझता हूँ कि

मत नहीं है। उनसे हम लड़ने नहीं जाते, कि तुम हमारे विपरीत विचार क्यों रखते हो। किन्तु जो हमारा पुत्र है, आश्रित है, पालनीय है सगा सम्बन्धी या अधीन है, यदि वह हमसे विरुद्ध विचार रखता है, तो हमे दु:ख होता है। यदि उन विचारों को वह हमारे सम्मुख व्यक्त करता है, तो हम उससे भी अधिक क्लेश होता है। अपने विचारों को व्यक्त ही न करे, अपितु हमारे विचारों की अवहेलना करे, उन्हें हेय और उपेक्षणीय सिद्ध करे, आज्ञा का उल्लघन कर तो बाध्य होकर उसे हमे यथोचित दण्ड देना पडता है। इसमे न सुरों का दोप न असुरों का यह स्वाभाविक नियम है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहते है—"राजन्! जिस प्रकार प्रह्लादजी का अपने पिता हिरण्यकशिपु से मतभेद हुआ, उस प्रसग को में आपको सुनाता हूँ। प्रह्लादजी का माता का नाम कयाधू था। कयाधू पेट मे सहस्रों वर्ष रहने के अन्तर प्रह्लाद जी उत्पन्न हुए। उत्पन्न होते ही ये भक्ति सम्बन्धी ही खेल खेलने लगे। छोटे बच्चे क्या खेल खेलते है, इसकी ओर बडे ध्यान नहीं देते। विशेपकर छोटा बच्चा माता के ही समीप रहता है। जैसे स्वभाव की माता

आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले इस गृहस्थी रूप अंधकूप को त्याग कर वन मे चला जाय और वहाँ श्रीहरि का ही आश्रय लेले। उन्हीं की शरण हो जाय।"

होती है, प्रायः वैसा ही स्वभाव बालक का बन जाता है। प्रह्लादजी की माता तो राजन्! मेरी शिष्य सविका ही थीं, इसलिये उस ता भगवद् सम्बन्धी खेलों में भगवन्नाम सङ्कीर्तन में, भगवान् का कथाओं में कोई आपत्ति थी ही नहीं किन्तु वह अपने पति से सदा डरती थी कि इन्हें बच्चे के मनोभाव विदित न हो जायँ। अतः वह शक्ति भर उनके भावों को छिपाये रखने की चेष्टा करती। इस प्रकार शनैः शनैः प्रह्लादजी की अवस्था ५, ६ वर्ष की हो गई।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपनी पत्नी कयाधू से कहा—"सुनती है। प्रह्लाद अब पढ़ने योग्य हो गया है, इसे अब गुरु गृह पढ़ने को भेजना चाहिये।"

इस पर कयाधू ने कहा—"पढने कहाँ भेजें, हम लोगों के पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य तो सुना कहीं बाहर चले गये हैं, और अभी शीघ्र लौट कर आने वाले नहीं।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"भगवान् भार्गव नहीं हैं, तो उनके शण्ड और अमर्क नामक दो पुत्र, तो हैं। जैसे ही गुरु वैसे ही गुरु पुत्र। जब तक गुरु जी नहीं आते हैं, तब तक गुरु पुत्रों के पास ही प्रह्लाद पढेगा।"

कयाधू ने कहा—"अच्छी बात है, कल पट्टीपुजवादो पूजन, कराके प्रसाद बँटवाओ कल शुभ मुहूर्त में अक्षरारम्भ हो

जाव।"

इस पर धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! शुक्राचार्य तो ब्राह्मण ऋषि थे, उनके पुत्रों के ये शण्ड अमर्क जैसे अशुभ और रूखे नाम क्यों हुए ?"

हँसकर नारद जी बोले—"अब राजन्! इसका क्या उत्तर दूँ, संसर्ग का भी तो कुछ दोष है। असुरों के पुरोहितों के ऐसे उटपटांग नाम स्वाभाविक ही हैं। कुछ तो असुरपना आना ही चाहिए। हाँ, तो दूसरे दिन शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त बड़ी धूमधाम के साथ प्रह्लाद जी का अक्षरारम्भ हुआ। अब वे नियमित रूप से चटसार जाने लगे। पंडित जी से पाठशाला मे पाठ पढ़ने लगे। और भी असुरों के बहुत से बालक उनके पास पढ़ने आते प्रह्लाद जी भी पट्टी और पठ्य-पुस्तक लेकर प्रेम पूर्वक पढ़ने आते। कभी घर चले जाते कभी गुरुगृह में ही रह जाते। गुरु पुत्र नीतिशास्त्र के बड़े पंडित थे, अतः वे बालकों को राजनीति की ही शिक्षा दिया करते। शत्रु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये। साम का प्रयोग कैसे किया जाता है। दान देकर शत्रु के तथा शत्रु को पक्षीय लोगों को किस प्रकार वश मे किया जाता है। शत्रु के शत्रुओं मे तथा शत्रु के राज्य में भेद कैसे डाला जाता है। सन्धि कैसे की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर दण्ड कैसे दिया जाता है, दण्ड के कितने भेद हैं, किस स्थान पर कैसा दण्ड उपयुक्त

होता है, आदि आदि ऐसी ही नीति की शिक्षा वे सबको देते थे। प्रह्लाद जी की बुद्धि अत्यन्त ही तीव्र थी। वे ज्यों ही गुरु जी के मुख से सुनते, त्यों ही उसे फट्ट ज्यों का त्यों सुना देते। गुरु पुत्रों को उनकी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा को देखकर आश्चर्य होता था और मन ही मन प्रसन्न होते, कि ऐसे शिष्य को शीघ्र ही पढाकर राजा से अधिक से अधिक पारितोषिक लेगे।

प्रह्लाद जी पढे हुए पाठ को तुरन्त सुना देते थे, किन्तु उन्हे ये राजनीति की बाते अच्छी नहीं लगती थीं। उनमे सदा ये ही बाते रहती थीं यह अपना है, यह पराया है, यह शत्रु है। यह मित्र है। प्रह्लादजी तो समदर्शी थे, वे तो मन से किसी को शत्रु मानते नही थे। इसीलिये ऐसी असद् आग्रह से युक्त बाते उन्हें अच्छी नही लगती थीं, फिर भी पिता की आज्ञा समझकर वे पढते थे।

एक दिन की बात है, कि प्रह्लाद जी पढकर आ रहे थे, हिरण्यकशिपु महलों मे बैठा था। प्रह्लाद जी ने पुस्तक पट्टी रख कर पिता के पादपद्मो मे अत्यन्त विनीत होकर प्रणाम किया। अपने अति सुन्दर फूल के समान सुकुमार पुत्र को ऐसी विनय और भक्ति से दैत्य राज अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने स्नेह से पुत्र को उठाकर अपनी गोदी में बिठा लिया और बार बार मुख

चूमकर प्यार करके बोला—"बेटा ! आजकल तू क्या पढ़ता

है। हमें भी कुछ सुना।"

नम्रता के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"पिता जी ! जो आ हो, वही सुनाऊँ।"

जैसे कि बच्चों से हँसी करते हैं, वैसे ही दुलार से हँसी कर हुए हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छा तू यह बता, कि संसार तुझे सब से अच्छी बात कौन सी लगती है। तेरे मत में पुरुष व सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य कौन है ?"

प्रह्लाद जी बिना पेंदी के लोटा तो थे नहीं कि जिधर भा पड़ा उधर ही लुढ़क गये। उनका तो एक निश्चित सिद्धान्त था मनुष्य के पेट के भीतर जो पदार्थ होगा, उसी के उद्‌गार बाह आवेंगे। अतः वे अपने पिता से बोले—"पिताजी ! मैं त संसार में प्राणियों के लिये सर्वश्रेष्ठ बात यही समझता हूँ, वि अहता ममता रूप असद् अभिनिवेश से जिनकी बुद्धि सदा उद्विग्न बनी रहती है, उन्हें इस बिना पानी के अँधे कूआँ रूप गृहस्थाश्रम का तुरन्त परित्याग कर देना चाहिये। इस गृहस्था- श्रम में दुख के अतिरिक्त सुख क्या है। क्षण भर का जिह्वा तथा उपस्थ का सुख है जो परिणाम में दुखद ही है। इनके सेवन से आत्मोन्नति न होकर आत्मपात होता है, अतः मेरे मत में ससारी विषयों से विरक्त होकर निरन्तर प्रभु पादपद्मों का ध्यान करते रहना और श्रीहरि की शरण में जाना, यही सर्वश्रेष्ठ कार्य है। यही सबसे सुन्दर बात है।"

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन् ! जैसे सांप को छेड़ देने से वह फुफकारने लगता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में आहुति

डालने से वह और भी अधिक जलने लगती है, वैसे ही भगवान् का नाम सुनते ही उसका हृदय द्वेष से जलने लगा। फिर उसने प्रह्लाद की ओर देखा। छोटा सा नन्हा सा बच्चा है. बातें ऐसी कर रहा है मानो देवगुरु बृहस्पति उपदेश दे रहे हो। छोटे मुँह बड़ी बात सुनकर दैत्यराज का क्रोध शान्त हो गया और उसे बच्चे की भोली भाली बात पर हँसी आ गई। राजन्! लोग तो कहते हैं बालबुद्धि कच्ची होती है, किन्तु मुझे तो बालकपन बहुत प्रिय है। *मेरी शक्ति चले तो मैं सदा बालक ही बना रहूँ।* बालक जो भी अपराध कर दे, सब क्षम्य है। कितना भी बड़ा अपराध क्यों न हो जाय, माता पिता जब बच्चे को डाँटते हैं, तो दूसरे उन्हें समझाते हुए कह देते हैं—"अजी, जाने भी दो। बालक ही तो ठहरा। बच्चों की बात पर ध्यान नहीं देते। बालक ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी बात पर ध्यान दिया जाता है, वह दोषी और अपराधी ठहराया जाता है। यद्यपि हिरण्यकशिपु के लिये भगवान् का नाम लेना बहुत बड़ा अपराध था। फिर भी प्रह्लाद को बालक समझ कर वह हँस पड़ा और अपने आप ही बोला— 'देखो, इसका नाम है लड़कपन। लड़का की बुद्धि इसी प्रकार दूसरों के बहकाने से बिगड़ जाती है। परन्तु बाल्यकाल के संस्कार अमिट होते हैं, अतः मुझे इनकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अभी से इसका कुछ प्रबन्ध करना चाहिये।" यह कहकर उसने अपने एक गृह कार्य करने वाले मन्त्री को बुलाया और उससे कहने लगा—"देखो, अब इसके घर आने की आवश्यकता नहीं। वहाँ गुरुगृह में ही इसे सावधानी से रखो। उन ब्राह्मणों से कहना, इसकी अधिक देख रेख रखें। विष्णु के पक्षपाती गुप्तवेष बनाकर विचरते रहते हैं और सरल चित्तवाले भोले भाले लोगों को इधर उधर

की बातें बताकर वैष्णव बना लेते हैं। जहाँ मनुष्य वैष्णव बना कि उसकी लौकिकी बुद्धि बिगड जाती है, वह निरर्थक बन जाता है, किसी भी काम का नहीं रहता। शत्रुओं पर क्रोध भी नहीं करता। अपने पास जो होता है, बेकार लोगों को लुटा देता है। इसलिये वैष्णवों से इसे सब प्रकार से बचाना। गुरु पुत्रों से डाँट डपटकर मेरी ओर से कह आना।"

नारदजी कहते हैं—"राजन! इतना कहकर हिरण्यकशिपु ने तुरन्त प्रह्लाद को मन्त्री के हाथों गुरुगृह भेज दिया। मन्त्री ने जाकर गुरुपुत्रों से कहा—'विप्रो! आपने इस राजकुमार को क्या अट संट पढ़ा दिया। महाराज आज बहुत बिगड़ रहे थे। यह तो हम असुरों के सर्वथा विरुद्ध बातें कह रहा था। आपको उन्होंने कडी चेतावनी दी है, कि इसकी भली भाँति देख रेख रखें। प्रतीत होता है, आपके यहाँ कोई विष्णु का पक्षपाती देवताओं का गुप्तचर छिपकर रहता है वही बालकों की बुद्धि को बिगाड़ता है।"

राजा के क्रोध की बात सुनकर गुरुपुत्र तो डर गये। वे विनय के साथ बोले—"मन्त्री! हमने तो कुमार को कोई ऐसी बात सिखाई नहीं। रही देवताओं के गुप्त चर की बात, सो आप गिन लें। हमारी पाठशाला में जितने लड़के हैं, सब असुरों के ही विश्वसनीय बालक हैं। ऐसी विरुद्ध बातें इसने दैत्यराज के सम्मुख कैसे कहीं हमें भी आश्चर्य है। अच्छी बात है। हम इससे पूछेंगे। आप महाराज को हमारी ओर से कह दें, हम कुमार की आज से बहुत सावधानी रखेंगे, और इस बात का तत्परता के साथ पता लगावेंगे, कि इसकी ऐसी विपरीत बुद्धि किस कारण से हुई। कारण को जानकर उसका प्रतीकार करने की शक्ति भर चेष्टा करेंगे।" यह सुनकर

मन्त्री चला गया। मन्त्री के चले जाने पर उन दोनों गुरुपुत्रों ने बड़े प्यार से प्रह्लादजी को अपने पास बुलाया। उन्हें गोदी में बिठाकर बड़े दुलार से उनको ठोढ़ी में हाथ देकर पूछने लगे—प्रह्लाद! देख, बेटा! हम तुमसे एक बात पूछते हैं, बोल सच सच बतावेगा? झूठ तो न बोलेगा?"

प्रह्लाद ने कहा—"गुरुजी! जो पूछना हो पूछिये?"

गुरु पुत्रों ने फिर कहा—"पूछते तो भैया, किन्तु देख, इस बात का ध्यान रखना, हम तेरे गुरु हैं। हमारे सम्मुख कोई बनावटी बात बताई तो बड़ा भारी पाप लगेगा। वैसे हम तुझे जानते हैं, तू तो राजा बेटा है, कभी झूठ नहीं बोलता तू बड़ा अच्छा बचा है।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"गुरुजी! आप मेरा विश्वास करें आप जो पूछेंगे उसका मैं सच सच ही सच उत्तर दूँगा।"

गुरु पुत्रों ने कहा—"अच्छा, तू यह बता। तैंने जो अपने पिता के सम्मुख ऐसी अंट सट बातें बकी थीं वे तुझे किसने सिखाई हमने तो कभी सिखाई नहीं। इन लड़कों में से किसी ने सिखाई हों, तो उसका हमें नाम बता दो और किसी भिखारी ने गुप्त वेष बनाये पंडित, ज्योतिषी, साधु या अन्य गुप्तचर ने बताई हो तो उसका परिचय दे दे या तैंने अपने मन से ही कही हों तो यही बता दे, तैंने ये सब बातें कैसे जानीं। बात यह है कि देख। करता तू है और दोष हमारे सिर पर आता है। तू बताने वाले का हमें परिचय दे दे तो हम फिर इसका कुछ उपाय करें, आगे के लिये सावधान हो जायँ।"

धर्मराज से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! गुरु पुत्रों की

ऐसी बात सुनकर प्रह्लाद जी मुस्कराये और फिर उनके प्रश्नों का बड़े सुन्दर ढंग से उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

सुनि हँसि बोल्यो असुर होहि मोरे बालक अति।
देवें जो जस सीख होहि तैसी तिनकी मति॥
वेष बदलि कें विष्णु भक्त ढिंग जाकें आवें।
कहि कहि हरि को सुयश सरलशिशुकूँ बहकावें॥
सेवक शासन सुनो सब सावधान सबइ रहो।
बारा जिनि तें बचाने, गुरु पुननि तें तुम कहो॥

प्रह्लादजी के उत्तर से गुरुपुत्रों का कोप

(४६३)

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽयमिति भेदगतासती ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

आज्ञा सुनि प्रह्लाद तुरत गुरुगृह पहुँचाये ।
असुर कहे जे वचन सेवकनि जाइ सुनाये ॥
पूछें शण्डामर्क कुमर तें नेह सहित अस ।
किनके वश तू भयो भई विपरीत बुद्धि क्स ॥
हँसि बोले प्रह्लाद गुरु ! कौन काहि को वश करैं ।
हरि ई सबकी बुद्धि कूँ, जब चाहैं तब तस करैं ॥

जन्म लेते ही जीव पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार कार्य करने लगता है। गौ बच्चा देते ही उसे चाटने लगती है। बच्चा पैदा होते ही उठने का प्रयत्न करता है और माँ के स्तनों को

❀ गुरुपुत्रों के पूछने पर प्रह्लादजी कहते हैं—"उन प्रभु की जब जीवों पर अनुग्रह होती है, तब उनकी पशुबुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस मिथ्या बुद्धि के कारण ही, यह मै हूँ यह अन्य है, ऐसा भेद भाव होता है।"

खोजने लगता है। स्तन नहीं पाता तो अगले पैरों के बीच में ही हुड्ड मारता है। पुनः खोजते खोजते स्तनों को पा जाता है, तो दूध पीने लगता है। यह सब उसे किसने सिखाया? कहना होगा, कि उसके जन्म जन्मान्तर के संस्कार थे। जिन बातों का पूर्वजन्म में संस्कार न होगा, आप लाख प्रयत्न करें वह बात आवेगी ही नहीं। आवेगी तो बहुत प्रयत्न करने पर कुछ संस्कार बनेंगे। अगले जन्मों में वे काम देंगे। कुछ कार्यों के संस्कार-अधूरे होते है, जो इस जन्म में गुरु के द्वारा पूरे किये जाते हैं। कुछ संस्कार पूर्ण रहते हैं, उनमें तनिक सी कोई त्रुटि हो जाने से भगवद् इच्छा से इस धराधाम पर जन्म लेना पड़ता है। उनकी शिक्षा दीक्षा तो पूर्वजन्मों में पूर्ण हो चुकी है। इस जन्म में उसे पूर्ण नहीं करना पड़ता। प्रारब्ध के भोग भोगकर फिर संसार का आवागमन छूट जाता है। ऐसे लोगों को जब स्वतः ही उन धर्मों का आचरण करते देखते हैं, तो अज्ञानी लोग कोई उन्हें स्वयंभू बताते हैं, कोई मन्मुखी कहकर हँसी उड़ाते हैं, कोई निगुरा कहकर तिरस्कार करते हैं। अपने को विद्वान् और शिक्षा दीक्षा का आचार्य समझने वाले आश्चर्य करते हैं कि इसने इतना ज्ञान सीख किससे लिया। इसे इतनी विद्या आ कैसे गई? यह इतना साधन सम्पन्न स्वतः ही कैसे बन गया। उन्हें यह पता नहीं, कि इन सबकी शिक्षा दीक्षा इसे पूर्व जन्मों में जन्म लेने के पूर्व ही प्राप्त हो चुकी है और उसे यह पूरा कर चुका है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! जब गुरुपुत्रों ने प्रह्लादजी से प्रेमपूर्वक पूछा कि भगवद्भक्ति को

शिक्षा तुझे किसने दी है, तब वह कहने लगे—"देखिये महाराज ! उत्तर देने के पूर्व मैं मङ्गलाचरण कर लूँ।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अच्छी बात है, मङ्गलाचरण करके ही उत्तर दो।"

यह सुनकर प्रह्लादजी कहने लगे—"जिसकी अचिन्त्य माया से मोहित होकर जीव, यह मेरा है, यह तेरा है, यह अपना है, यह पराया है ऐसी भेद बुद्धि करता है। मिथ्या दुराग्रह के कारण जिनकी बुद्धि मोहग्रस्त हो रही है। उस माया के पति भगवान् वासुदेव को प्रणाम है।

गुरुपुत्रो ने कहा—'अरे, भैया ! तू किसको प्रणाम कर रहा है। यह भेद भाव तो अनादि है। स्वभावानुसार है। प्रह्लादजी ने कहा—गुरुओ ! ससार मे यही पशु बुद्धि है, यही अज्ञान है कि यह मेरा है, यह पराया है। जब सर्वान्तर्यामी हरि की जीवों पर कृपा होती है। या जब जीव उनकी कृपा की अनुभूति का अधिकारी बन जाता है, तो यह भेद भाव नष्ट हो जाता है। भगवान् की कृपा अनुग्रह साध्य है, अतः सदा सर्वदा भगवद् अनुग्रह की ही प्रतीक्षा करते ? कभी न कभी करुणेश कृपा करते ही है।"

इस पर गुरपुत्रों ने क्रोध पूर्वक कहा—'अरे, तू क्या अट सट बक रहा है। किसने तेरी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है ? हम जो बात पूछते हैं, उसे तो बताता नहीं। अनुग्रह प्रतीक्षा, साधन, साध्य न जाने क्या क्या बिना सिर पैर की बातें कह रहा है। चला है हमें ज्ञान सिखलाने को। अरे, यह

बता कि तेरी बुद्धि को किसने भ्रष्ट कर दिया है, किसने तुझे यह उलटी पट्टी पढाई है ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"मूर्ख लोग जो आत्मा में अपने परायेपन का आरोप करते हैं, यह सत्य नहीं। बुद्धि हीन पुरुष ही ऐसा निरुपण करते हैं। जिन्हें प्रभु की कृपा प्राप्त हो चुकी है वे ऐसी विपरीत बातें त्रिकाल में भी नहीं करते। उन मदनमोहन की मोहिनी माया बडी ही दुर्ज्ञेय है। बडे बडे वेदज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मादिक देवगण भी उसके मोह में पड कर मोहित हो जाते हैं। उन्हीं मदनमोहन ने मेरी बुद्धि में भेद भाव उत्पन्न कर दिया है। मैं क्या करूँ ब्राह्मणो। आप मेरे गुरु हैं, मैं सत्य कहता हूँ, किसी व्यक्ति ने मुझे बहकाया नहीं है। मेरा मन उनकी ओर स्वत: उसी प्रकार आकर्षित हो जाता है जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित हो जाता है। जैसे मन के सम्मुख विषय आने से,स्वतः ही वह उनकी ओर खिंच जाता है, जैसे ढालू पृथ्वी पर पडा पानी स्वतः ही नीचे को बहने लगता है उसी प्रकार भगवान् के नाम गुणों की ओर मेरी स्वभाविकी प्रवृत्ति है, किसी के सिखाने पढाने या बहकाने से मैं ये बातें नहीं कह रहा हूँ।

इस पर गुरुपुत्रों ने कहा—"तू बडा ढीठ है रे लड़के! हम समझते थे, तू बच्चा है, बाल चापल्य वश ऐसी बातें करता है, किन्तु तू तो बडे बडों के कान काटने लगा है। हमें भी

उपदेश देने लगा है ! छोड़ इन व्यर्थ की बातों को।"

गुरु पुत्रो को क्रोधित देखकर प्रह्लादजी ने फिर उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। उन दोनो के क्रोधित होने पर मना करने पर भी उन्होंने ध्यान न दिया। वे मौन हो गये।

गुरु पुत्रों ने जब देखा कि यह तो हमारी बातों की अवहेलना करता है, हमारी आज्ञा नहीं मानता, तब तो उनका क्रोध सीमा का उलघन कर गया। क्रोध में भरकर दाँतों को किटकिटा कर वे बोले—'अरे, दुर्मुख ! भीतर से हमारा बेत तो उठा लाना। यह नीच कुलाङ्गार समझाने से नहीं समझेगा। लातों का देव बातों से नहीं माना करता। हमने कितने प्यार से समझाया, राजा का भय दिया ऊँच नीच समझाया, किन्तु इसकी बुद्धि पर तो पत्थर पड गये हैं। यह बिना पिटे न मानेगा। जब पीठ पर पडा सड १०, २० बेत पडेगे तब इसकी बुद्धि ठिकाने आवेगी। तब यह हाय भैया बप्पा ! चिल्लावेगा।"

नारद जी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! दासता से बढ़ कर कोई पाप नहीं। आश्रितो को सदा अपने आश्रयदाता का रुख देखकर बातें करनी पडती हैं। उसे प्रसन्न करने के लिये भाँति-भाँति की चेष्टायें करनी पडती हैं। स्वामी यदि दिन को रात्रि कहे और रात्रि को दिन कहे तो रात्रि मे सूर्योदय हुआ बताना पडता है। ये शड और अमर्क तो

हिरण्यकशिपु के आश्रित ही ठहरे। राजा को प्रसन्न करने के निमित्त उसी के पुत्र से वे कहने लगे—"अरे, ओ नीच राजकुमार! अपने कुल का नाश मत कर। एक कुल्हाड़ी लेकर वन को काटने वाले पुरुष को देखकर वन के वृक्षों ने कुल्हाड़ा से कहा था—'कुल्हाड़ी! तू हमें क्या काट सकता थी, किन्तु कर क्या तुझमें बेंट हमारी जाति लकड़ी का ही पड़ा है। घर का भेदी ही लंका ढा देता है। तू इस असुर रूप चन्दन के वन में काँटों का वृक्ष बन कर उत्पन्न हुआ है। तेरे कारण इस सम्पूर्ण कुल का नाश होगा। अभी से तू अपने शत्रु के गीत गाता है, उसी की भक्ति करता है। विष्णु दैत्यों के लिये कुल्हाड़ा है, तू उसका बेंट है। तेरे सहारे ही वह असुर कुल का नाश कर डालेगा।"

नारदजी कहते हैं— राजन्! इस प्रकार उन गुरुपुत्रों ने प्रह्लाद जी को बहुत सी उलटी सीधी कहने न कहने योग्य बातें सुनाईं, किन्तु प्रह्लाद जी ने गुरु के गौरव से उसमें से किसी का भी उत्तर नहीं दिया, वे चुपचाप उनकी बात सुनते रहे। अंत में गुरुपुत्रों ने कहा—"अच्छी बात है, आज तो हम तुझे क्षमा करते हैं। अब फिर तैंने ऐसी बातें की तो बिना मारे न छोड़ेंगे। अब हम जो शिक्षा दें उसी को ग्रहण करना। इस प्रकार विविध उपायों से प्रह्लाद जी को भय दिखाकर उन्हें अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति कराने वाली विद्या की शिक्षा देने लगे। प्रह्लादजी को ये बातें अच्छी तो लगती

नहीं थीं, किन्तु गुरुगौरव से उन सबको श्रद्धा सहित सुनते रहते थे।

छप्पय

अति कोप्ये गुरु पुन कहे अति खल जिह बालक।
कुलाङ्गार दुर्बुद्धि असुर कुल को संहारक॥
लाओ मेरो बेंत न माने मात पिता की।
हड्डी पसली तोरि उधेडूँ चमड़ी जाकी॥
चंदन वन यह असुर कुल, विष्णु कुल्हाडी सम भयो।
मूलोच्छेदन करन हित, बेंट सरिस जिह है रह्यो॥

—:※:—

॥ श्रीहरिः ॥

[व्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य अनुपम पाठ के योग्य महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ व्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पण्डित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रङ्गीन कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०.०० में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५.२५ न०पै० मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग